वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४९ अंक ३ मार्च २०११

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक ३

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २३,५००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४९ मार्च २०११ अंक ३

पुरखों की थाती

अपराध-शतं साधु सहेतैकोपकारतः ।
शतं चोपकृतीर्नीचो नाशयेदेकदृष्कृतात् ।।१८।।

– सज्जन लोग अपने प्रति किये गए एक उपकार के कारण भी सैकड़ों अपराधों को सहते हैं, (परन्तु) दुर्जन व्यक्ति सैकड़ों उपकार करनेवाले से भी, एक भूल हो जाने पर, उसका सर्वनाश कर देता है।

अन्य क्षेत्रे कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति ।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ।।१९।।

– विभिन्न स्थानों में किया हुआ पाप तीर्थक्षेत्रों में नष्ट हो जाता है, परन्तु तीर्थक्षेत्रों में किया हुआ पाप वज्रलेप के समान पक्का हो जाता है।

अनारम्भो हि कार्यस्य प्रथमं बुद्धि-लक्षणम् ।
आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धि-लक्षणम् ।।२०।।

– किसी कार्य को (बिना सोचे-समझे) प्रारम्भ न करना ही बुद्धि का लक्षण है और यदि कोई कार्य शुरू ही कर दिया, तो उसे पूरा करना बुद्धि का दूसरा लक्षण है।

अकृतेषु एव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ।
युवैव धर्मशीलः स्यात् अनिमित्तं हि जीवनम् ।।२१।।

– जीवन का कोई ठिकाना नहीं है, मृत्यु कार्य के बीच से भी खींच कर ले जाती है, अतः युवावस्था में ही धर्म-साधना में लग जाना चाहिए। (महाभारत, १२/९९/४२)

अज्ञानी निन्दति ज्ञानं चौरा निन्दति चन्द्रमाः ।
अधमा धर्म निन्दन्ति मुर्खाः निन्दन्ति पण्डितान्।।२२

– अज्ञानी ज्ञान की निन्दा करता है, चोरगण चन्द्रमा को कोसते हैं, दुष्टजन धर्म की निन्दा किया करते हैं और मूर्खगण विद्वानों की निन्दा करते हैं।

अन्तःसार-विहीनस्य सहाय किं करिष्यति ।
मलयेऽपि स्थितो वेणुः वेणुरेव न चन्दनः ।।२३।।

– जैसे मलय पर्वत पर उगनेवाला बाँस – खोखला बाँस ही रह जाता है, चन्दन नहीं कहलाता, वैसे ही जो व्यक्ति भीतर से बिल्कुल ही निःसार है, उसे केवल सहायता मात्र देकर ही महान् नहीं बनाया जा सकता।

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ।।२४।।

– मृत्यु और अमृतत्व, दोनों इसी देह में स्थित हैं। मोह से मृत्यु प्राप्त होती है और सत्य से अमृतत्व मिलता है।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्यो इव षट्पदः ।।२५।।

– जैसे भौंरा सभी पुष्पों से साररूपी रस संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान व्यक्ति को छोटों, बड़ों तथा शास्त्रों – सभी से सारभूत ज्ञान ग्रहण करना चाहिए।

अस्थिरं जीवितं लोके अस्थिरे धनयौवने ।
अस्थिरा पुत्रदाराश्च धर्म-कीर्तिद्वयं स्थिरम् ।।२६।।

– संसार में धन, यौवन, पुत्र, पत्नी तथा जीवन – सब क्षणभंगुर हैं; केवल दो – धर्म तथा कीर्ति ही स्थायी हैं।

अनित्यानि शरीराणि वैभवं न च शाश्वतम् ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ।।२७।।

– शरीर क्षणभंगुर है, धनादि भी सदा के लिए नहीं है और मृत्यु सदैव साथ लगी है, अतः पुण्य कर्म में लगे रहना ही एकमात्र कर्तव्य है।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-गीति

– १ –

(भैरवी–कहरवा)

चारों ओर खड़े हैं ईश्वर बहु रूपों में,
इन्हें छोड़ तुम कहाँ खोज करते हो उनकी ।
सब जीवों की प्रेमसहित सेवा जो करते,
वे ही करते हैं सच्ची पूजा ईश्वर की ।।

गरीब दीन-हीन को, सजीव ईश मान लो,
इन्हीं की सेवा-सुश्रुषा, परम स्वधर्म जान लो ।।

कहो सदा दिवस-निशा, जननि हमें मनुज करो ।
हमारी हीनता को, भीरुता को, कर कृपा हरो ।।

असीम शक्तियाँ, तुम्हारे रोम-रोम में भरीं,
अतः किसी भी हाल में, कदापि तुम डरो नहीं ।।

न भूलो मित्र तुम सदैव, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो,
प्रमाद की निशा में स्वप्न देखते प्रसुप्त हो ।।

लोभ-मोह-कामना, दम्भ-द्वेष को तजो,
अभिः का अग्निमंत्र लो, प्रमाद से उठो जगो ।।

अभीष्ट-प्राप्ति के बिना, स्वमार्ग से न तुम टलो,
रुकावटों को भूलकर, 'विदेह' तुम बढ़े चलो ।।

– ३ –

(भूपाली–कहरवा)

भारतवासी भूल न जाना, अपने चिर आदर्श महान्,
इनके बल पर कभी मिला था, भारत को गौरव-सम्मान ।।

त्यागीश्वर शिव, जननी सीता, जीवनदायिनी भगवद्गीता,
इनके दर्शित पथ पर चलकर, प्राप्त करोगे पद-निर्वाण ।।

ये जो दीन दुखी अगणित है, मूर्ख-निरक्षर और पतित हैं।
इनको प्रभु की मूरत जानो, इनकी सेवा धर्म महान् ।।

सत्य-धर्म ही लक्ष्य तुम्हारा, भक्ति-ज्ञान का गहो सहारा,
सब कर्मों को पूजा मानो, करो तुच्छ जीवन बलिदान ।।

करो प्रार्थना हे त्रिलोकपति, दो मुझको बल और विमल मति,
दूर करो दुर्बलता मेरी, मानव होऊँ सिंह समान ।।

– 'विदेह'

श्रीरामकृष्ण के चरणों में (२)

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

हमने (श्रीरामकृष्ण और मैंने) अपने श्रुति-ग्रन्थ वेदों तथा कुरान, बाइबिल आदि अन्य कई धर्म-ग्रन्थों की चर्चा की। जब बातें खत्म हुईं, तो महात्मा ने मुझे मेज पर से एक किताब उठा लाने को कहा। उस किताब में अन्य बातों के साथ यह भी लिखा था कि उस साल कितनी वर्षा होने वाली थी। महात्मा ने कहा, "इसे पढ़ो।" मैंने पढ़ा कि कितनी वर्षा होने को है। उन्होंने कहा, "किताब को उठा लो और उसे निचोड़ो।" मैंने वैसा ही किया। तब उन्होंने कहा, "जब तक पानी नहीं गिरता, यह किताब कोरी किताब ही है, मात्र किताब। उसी तरह जब तक तुम्हारा धर्म ईश्वर-प्राप्ति नहीं करा देता, तब तक वह निरर्थक है। जो व्यक्ति धर्म के लिए केवल किताबें पढ़ता है, उसकी हालत तो कथावाले उस गधे की है, जो पीठ पर चीनी का भारी बोझ ढोता हुआ भी उसकी मिठास को नहीं जान पाता।"[१४]

वे जो कुछ कहते थे, मैं पहले-पहल उनमें से बहुत-सी बातें नहीं मानता था। एक दिन उन्होंने कहा था, "तो फिर तू आता क्यों है।" मैंने कहा, "आपको देखने लिए, आपकी बातें सुनने के लिए नहीं।"... वे बहुत प्रसन्न हुए थे।[१५]

मुझसे एक दिन अकेले में उन्होंने एक बात कही। उस समय और कोई न था।... उन्होंने कहा था, "सिद्धियों के प्रयोग करने का अधिकार मैंने तो छोड़ दिया है, परन्तु तेरे भीतर से उनका प्रयोग करूँगा – क्यों, तेरा क्या कहना है?" मैंने कहा, "नहीं, ऐसा तो न होगा।"

मैं उनकी बातें उड़ा देता था।... वे ईश्वर के रूपों का दर्शन करते थे, इस पर मैंने कहा था, "यह सब मन की भूल है।"

उन्होंने कहा, "मैं कोठी पर चढ़कर जोर-जोर से पुकारा करता था – अरे भक्तो, कौन कहाँ हो, चले आओ, तुम्हें न देखकर मेरे प्राण निकल रहे हैं। माँ ने कहा था, 'अब भक्तगण आयेंगे,' अब देख, सब बातें मिल रही हैं।"[१६]

मैं अपनी इच्छानुसार काम करता था, वे कुछ कहते न थे। मैं साधारण ब्राह्मसमाज का सदस्य बना था।... वे जानते थे कि वहाँ स्त्रियाँ भी जाती हैं। स्त्रियों को सामने रखकर ध्यान हो नहीं सकता। इसीलिए वे इस प्रथा की निन्दा करते थे, परन्तु मुझे वे कुछ नहीं कहते थे। एक दिन सिर्फ इतना ही कहा कि राखाल से ये सब बातें न कहना कि तू सदस्य बन गया है, नहीं तो उसे भी जाने की इच्छा होगी।[१७]

ठाकुर ने जिस प्रकार मुझे अपना लिया था और धर्म-विषयक शिक्षा आदि देकर मुझ पर जैसी कृपा करते थे, (मेरे मित्रों) पर भी उस तरह की कृपा न करने के कारण, मैं उनसे आग्रहपूर्वक इसके लिये अनुरोध किया करता था। अपने बालक-स्वभाव-वश मैं बहुधा उनके साथ कमर कसकर तर्क करने के लिए भी उद्यत हो जाता था ! मैं कहता, "महाराज, आप ही बताइये कि ईश्वर तो इस प्रकार के पक्षपाती नहीं है कि वे एक पर कृपा करते रहें, दूसरे पर नहीं ! तो फिर आप इन्हें मेरी तरह स्वीकार क्यों नहीं करते? इच्छा तथा चेष्टा के द्वारा जैसे सब लोग विद्वान् तथा पण्डित बन सकते हैं, उसी तरह सबके लिए धर्म तथा ईश्वर को प्राप्त करना भी सम्भव है, इसमें सन्देह ही क्या है?" यह सुनकर ठाकुर कहते, "मैं क्या करूँ रे? माँ मुझे यह दिखा रही है कि इनके अन्दर साँड़ जैसा पशुभाव विद्यमान है, अत: इन्हें इस जन्म में धर्मलाभ न होगा – ऐसी स्थिति में मैं कर ही क्या सकता हूँ? और यह तू क्या कह रहा है? इच्छा तथा चेष्टा करने पर ही क्या लोग इस जन्म में जैसा चाहते हैं, वैसा हो सकते हैं?" परन्तु उनकी बात भला कौन सुनता? मैं कह उठता, "यह क्या बात है, इच्छा तथा चेष्टा करने पर जिसकी जैसी इच्छा है, क्या वह तदनुरूप नहीं बन सकता ! अवश्य ही बन सकता है ! आपकी इस बात पर मैं विश्वास नहीं कर पा रहा हूँ।" किन्तु इतने पर भी ठाकुर का यही कहना था, "चाहे तू विश्वास कर या न कर, माँ तो मुझे यही दिखा रही है।" उस

समय मैं उनकी बात को किसी भी तरह स्वीकार नहीं करता था। किन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों-त्यों देख-भालकर मुझे यह अनुभव होने लगा कि ठाकुर ने जो भी कहा है, वही सत्य है, मेरी धारणा ही गलत है।''१८

दक्षिणेश्वर में पहुँचते ही श्रीरामकृष्ण मुझे वे पुस्तकें पढ़ने को देते थे, जिन्हें वे दूसरे लोगों को पढ़ने के लिए मना करते थे। अन्यान्य पुस्तकों के अतिरिक्त उनके पास 'अष्टावक्र-संहिता' नाम की एक पुस्तक थी। यदि वे किसी को वह पुस्तक पढ़ते देखते थे, तो मना करते और उसे 'मुक्ति तथा उसके साधन' 'भगवद्गीता' या किसी पुराण ग्रन्थ को पढ़ने का निर्देश देते थे। परन्तु जब मैं उनके पास उपस्थित होता, तो वे 'अष्टावक्र-संहिता' निकालकर मुझे पढ़ने को कहते थे। अथवा अद्वैतभाव-परिपूर्ण 'अध्यात्म-रामायण' के किसी अंश का पाठ करने के लिए कहते थे। यदि मैं यह कहता कि इसे पढ़ने से क्या लाभ? 'मैं ईश्वर हूँ' इस प्रकार की भावना का मन में उदय होना तक पाप है। ऐसी पापों की बातें ही इस पुस्तक में लिखी हुई हैं। इस पुस्तक को जला देना चाहिए। तब वे हँसते हुए कहते, ''क्या मैं तुम्हें पढ़ने को कह रहा हूँ? मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मुझे पढ़कर सुना। इसके कुछ अंश पढ़कर मुझे सुना न! इससे तो तुम्हें यह स्वीकार नहीं करना पड़ेगा कि तू भगवान है।'' अत: उनके अनुरोध पर मुझे बाध्य होकर उस पुस्तक के कुछ अंश पढ़कर उन्हें सुनाना पड़ता था।१९

उनके उस दिन के अद्भुत स्पर्श से मेरे भीतर क्षण भर में भावान्तर उपस्थित हो गया। स्तम्भित होकर सचमुच ही मैं देखने लगा – ईश्वर के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में अन्य कुछ भी नहीं है। वैसा देखकर भी मैं मौन रहा, सोचा, देखूँ कब तक ऐसा भाव रहता है। परन्तु वह भावावेश उस दिन कुछ भी नहीं घटा। घर लौट आया, वहाँ भी वैसा ही – जो कुछ देखा, सभी ईश्वर हैं ऐसा प्रतीत होने लगा। खाने बैठा, देखा – अन्न, थाली, परसनेवाला और मैं भी उनके अतिरिक्त दूसरा नहीं! मैं दो-एक कौर खाकर स्थिर भाव से बैठा रहा। ''बैठा क्यों है, खा न'' – माँ के कहने से होश आने पर मैं फिर खाने लगा। इसी तरह खाते-पीते, सोते-जागते तथा कॉलेज जाते समय वैसा ही दिखायी पड़ने लगा और सारा दिन न जाने कैसे उसी भावावेश में आच्छन्न रहा। रास्ते में चल रहा हूँ, गाड़ियाँ आ रही हैं, देखता हूँ, किन्तु आज इस डर से कि ये अपने ऊपर आ जायेंगी, हट जाने की इच्छा नहीं होती थी। ऐसा लगता था, जो वे हैं, मैं भी तो वही हूँ। हाथ-पैर सुन्न हो जाते थे और खाने से भी तृप्ति नहीं होती थी। ऐसा मालूम होता था मानो कोई दूसरा व्यक्ति खा रहा है। खाते-खाते कभी मैं लेट जाता था और कुछ देर के बाद उठकर फिर खाने लगता था। एक दिन इसी तरह बहुत अधिक खा गया, परन्तु उससे हानि कुछ भी नहीं हुई। माँ डरकर कहतीं, ''देखती हूँ, तुझे कोई रोग हो गया है।'' कभी कभी यह भी कहतीं, ''अब यह नहीं बचेगा।'' जब वह आच्छन्न भाव कुछ घट जाता था, तब सारा संसार स्वप्न के समान प्रतीत होता था। हेदुआ तालाब पर टहलते हुए किनारे किनारे लोहे के घेरे की छड़ों पर सिर ठोंककर देखता कि वे स्वप्न की हैं या सत्य हैं। हाथ-पैर के सुन्न हो जाने से कभी कभी पक्षाघात हो जाने का डर लगता था। इस प्रकार कुछ दिनों तक उस अपूर्व भाव की आच्छन्नता से छुटकारा नहीं मिला। उसके बाद जब मैं स्वस्थ हुआ, सोचा, यही अद्वैतज्ञान का आभास है। तब तो ज्ञात हुआ कि शास्त्र में इस विषय में जो कुछ लिखा है, वह मिथ्या नहीं है। इसके बाद से कभी मुझे अद्वैत-तत्त्व के विषय में सन्देह नहीं हुआ।२०

जीवन में पहली बार ही मुझे एक ऐसा व्यक्ति मिला, जिसने साहसपूर्वक कहा कि मैंने ईश्वर को देखा है और यह भी कहा कि धर्म एक वास्तविक सत्य है; और जैसे हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा संसार का अनुभव करते हैं, उससे भी कहीं अधिक स्पष्ट रूप से उसका अनुभव किया जा सकता है। मैं दिन-पर-दिन उनके पास जाने लगा और मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव किया कि धर्म भी दूसरे को 'दिया' जा सकता है; केवल एक ही स्पर्श या एक ही दृष्टि से पूरा जीवन बदला जा सकता है। मैंने बुद्ध, ईसा मसीह तथा मुहम्मद के बारे में तथा पुराणकालीन अन्य महात्माओं के विषय में पढ़ा है। वे किसी भी मनुष्य के सम्मुख खड़े होकर कह देते थे, 'तू पूर्णता को प्राप्त हो जा' और वह मनुष्य उसी क्षण पूर्णता को प्राप्त हो जाता था। यह बात अब मुझे सत्य प्रतीत होने लगी और जब मैंने इन महापुरुष के स्वयं दर्शन कर लिये तो मेरी सारी नास्तिकता दूर हो गयी। मेरे गुरुदेव कहा करते थे, ''इस संसार की किसी ली-दी जानेवाली वस्तु की अपेक्षा धर्म अधिक आसानी से दिया तथा लिया जा सकता है।'' ...

दूसरा, एक और भी महत्त्वपूर्ण तथा आश्चर्यजनक सत्य मैंने अपने गुरुदेव से सीखा, वह यह है कि संसार में जितने धर्म हैं, वे परस्पर-विरोधी या प्रतिरोधी नहीं हैं – वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्म के भिन्न-भिन्न भाव मात्र हैं। यही एक शाश्वत धर्म चिर काल से समग्र विश्व का आधार-स्वरूप रहा है और चिर काल तक रहेगा; और यही धर्म विभिन्न देशों में, विभिन्न भावों में अभिव्यक्त हो रहा है।२१

सामान्यत: वे द्वैतवाद की शिक्षा दिया करते थे। अद्वैतवाद की शिक्षा न देने का उन्होंने नियम बना लिया था। परन्तु इसकी शिक्षा उन्होंने मुझे दी। पहले मैं द्वैतवादी था।२२

(श्रीरामकृष्ण) ने एक बार मुझसे कहा था कि दो करोड़ मनुष्यों में, एक भी ऐसा मनुष्य इस दुनिया में नहीं है, जो ईश्वर में सम्यक् विश्वास करता हो। मैंने पूछा, ''वह कैसे?''

तो वे बोले, "मान लो, इस कमरे में चोर घुस आया और उसे पता लग गया कि दूसरे कमरे में सोने का ढेर रखा है, और दोनों कमरों को अलग करने वाली दीवाल भी बहुत पतली है, तो उस चोर के मन की हालत क्या होगी?" मैंने उत्तर दिया, "उसे नींद न आयेगी। उसका मन सोना पाने की तरकीबों में ही लगा रहेगा, उसे और कुछ भी न सूझेगा।" यह सुनाकर वे बोले, "तो फिर तुम्हीं बताओ कि क्या यह सम्भव है कि मनुष्य ईश्वर में विश्वास करे और उसे पाने के लिए पागल न हो? यदि मनुष्य सचमुच यह विश्वास करे कि ईश्वर असीम आनन्द की खान है और वह उस खान तक पहुँच भी सकता है, तो क्या वहाँ पहुँचने के लिए वह पागल न हो जायेगा?'[२३]

उन दिनों एक रात मैं दक्षिणेश्वर में ही श्रीरामकृष्ण के पुण्यसंग में रह गया था। मैं कुछ समय पंचवटी के नीचे स्थिर होकर बैठा था, इतने में वे सहसा वहाँ उपस्थित हुए और मेरा हाथ पकड़कर हँसते हुए बोले, "आज तेरी विद्या-बुद्धि का पता चल जायेगा। तू तो कुल ढाई पास है, आज साढ़े तीन पासवाला एक मास्टर आया है। चल, उससे तू बात करना।" लाचार होकर उनके साथ जाना पड़ा। उनके कमरे में श्री 'म' से परिचय होने के बाद विविध विषयों पर बातचीत शुरू हुई। इस प्रकार हम दोनों को बातों में लगाकर श्रीरामकृष्णदेव चुपचाप हमारा वार्तालाप सुनने तथा हमारे ऊपर ध्यान रखने लगे। बाद में श्री 'म' के चले जाने पर उन्होंने कहा, "पास करने से क्या होता है? मास्टर का मादा भाव है, बात कर ही नहीं सकता।" इसी प्रकार मुझे दूसरों से तर्क-वितर्क में लगाकर वे तमाशा देखा करते थे।"[२४]

(श्रीरामकृष्ण से मिलने के कुछ समय बाद) धर्म-कर्म करने हेतु आकर, और कुछ नहीं, तो क्रोध को उनकी कृपा से वशीभूत कर सका हूँ। पहले, क्रोध आने पर मैं अपने को भूल जाता था और कई तरह के अनर्थ करके पछताया करता था। परन्तु अब कोई अकारण मार दे या हानि पहुँचाये, तो भी उस पर उतना क्रोध नहीं आता।[२५]

पहले-पहल जब मैं गया, तो एक दिन उन्होंने भावावेश में कहा, "तू आया है!" मैंने सोचा, यह कैसा आश्चर्य है! ये मानो मुझे बहुत दिनों से पहचानते हैं। फिर उन्होंने कहा, "क्या तू कोई ज्योति देखता है?" मैंने कहा, "जी हाँ, सोने से पहले, दोनों भौहों के बीच की जगह के ठीक सामने एक ज्योति घूमती रहती है।" पहले बहुत देखा करता था। यदु मल्लिक के भोजनागार में मुझे छूकर उन्होंने मन-ही-मन न जाने क्या कहा कि मैं अचेत हो गया था। उसी नशे में मैं एक महीने तक रहा था।

मेरे विवाह की बात सुनकर माँ काली के पैर पकड़कर वे रोये थे। रोते हुए कहा था, "माँ, वह सब फेर दे – माँ, नरेन कहीं डूब न जाय!"[२६]

श्रीरामकृष्ण जब एक दिन अध्ययन-कक्ष में पधारकर मुझे ब्रह्मचर्य-पालन का उपदेश दे रहे थे, तो मेरी नानी ने ओट से सब सुनकर मेरे माता-पिता से कह दिया। संन्यासी से मिलकर मैं भी संन्यासी हो जाऊँगा – इस आशंका से वे उस दिन से मेरे विवाह के लिए विशेष चेष्टा करने लगे। परन्तु करने से क्या होता है? उनकी प्रबल इच्छा के विरुद्ध उन लोगों की सारी चेष्टाएँ बह गयीं। सभी बातें तय हो जाने पर भी कुछ मामलों में दोनों पक्षों के बीच मामूली बातों पर मतभेद होने के कारण विवाह-सम्बन्ध टूट गया।[२७]

श्रीरामकृष्ण के संग में किस प्रकार आनन्द से दिन बीतते थे, दूसरों को समझाना कठिन है। खेल, हँसी, विनोद आदि साधारण विषयों द्वारा उन्होंने किस तरह निरन्तर उच्च शिक्षा देकर अनजाने में ही हमारे आध्यात्मिक जीवन के गठन में सहायता दी थी, उस विषय में आज सोचने पर हमें बहुत आश्चर्य होता है। बालक को सिखाते समय शक्तिशाली पहलवान जिस प्रकार अपने को संयत रखकर बालक के अनुरूप शक्ति प्रकाशित कर कभी उसे बहुत प्रयत्न के द्वारा हराकर और कभी उससे स्वयं हारकर उसके मन में आत्मविश्वास उत्पन्न कर देता है, हमारे साथ व्यवहार करते हुए ठाकुर भी प्राय: वैसे ही भाव का अवलम्बन करते थे। वे बिन्दु के भीतर सदा सिन्धु का दर्शन करते थे; उसी प्रकार हम लोगों के अन्तर्निहित आध्यात्मिक भाव का बीज फूल-फलों के रूप में परिणत होगा, इस बात को उसी समय वे 'भावमुख' में प्रत्यक्ष कर, सदा हमारी प्रशंसा किया करते थे, उत्साह देते थे और किसी खास कामना में फँसकर हम जीवन की उस महान् सफलता को कहीं खो न बैठें, इसलिए विशेष सावधानी के साथ हमारे प्रत्येक व्यवहार के प्रति ध्यान रखकर अनेक उपदेश देते हुए हमें संयत रखते थे। परन्तु वे इतना ध्यान देकर हमें सदा नियंत्रित रखते थे, इस बात को हम उस समय बिलकुल ही समझ नहीं सकते थे। वही उनके शिक्षा-प्रदान और जीवन-गठन करने का अपूर्व कौशल था।

ध्यान-धारणा करते समय कुछ दूर अग्रसर हो मन जब अधिक एकाग्र होने का अवलम्बन नहीं पाता था तो उनसे पूछने पर वैसी स्थिति में उन्होंने स्वयं क्या किया था, हमें बताकर वे अनेक उपयुक्त उपाय कह देते थे। मुझे स्मरण है, किसी रात को ध्यान में बैठने पर आलमबाजार-स्थित जूट मिल के भोंपू की आवाज से मन लक्ष्यच्युत और विक्षिप्त हो जाता था। उनसे इस बात को कहने पर उन्होंने हमें उस भोंपू की आवाज पर ही मन को एकाग्र करने का आदेश दिया और

हमने वैसा करके विशेष फल भी प्राप्त किया था।

एक अन्य समय ध्यान करते समय शरीर को भूलकर मन को लक्ष्य में समाहित करने में विशेष बाधा का अनुभव करके उनके पास मैं उपस्थित हुआ। उन्होंने स्वयं के वेदान्त के साधना-काल में श्रीमत् तोतापुरीजी से भ्रूमध्य में मन को एकाग्र रखने के लिए जिस प्रकार का आदेश पाया था, उस बात का उल्लेख करके अपने नखाग्र को मेरे भ्रूमध्य में जोर से गड़ाकर उन्होंने कहा था, "इस वेदना पर मन को एकाग्र कर।" इसके फलस्वरूप मैंने देखा था कि उस आघातजनित वेदना के अनुभव को जब तक चाहे मन में धारणा किये रहा जा सकता है और उस समय शरीर के किसी दूसरे भाग पर मन के विक्षिप्त होने की बात दूर रही, उन अंगों के अस्तित्व का ज्ञान तक नहीं रहता था।

ठाकुर की साधना का स्थल – निर्जन पंचवटी के नीचे – हमारी ध्यान-धारणा करने का विशेष उपयोगी स्थान था। केवल ध्यान-धारणा ही नहीं, हम लोग खेल-मनोरंजन में भी वहाँ कुछ समय बिताया करते थे। उस समय भी वे हमारे साथ सहयोग देकर हमारा आनन्दवर्धन किया करते थे। हम वहाँ दौड़ते थे, पेड़ पर चढ़ते थे, मजबूत रस्सी के समान लटकती हुई माधवी-लता के घेरे में बैठकर झूलते थे। फिर कभी स्वयं पकाकर वहाँ वनभोज करते थे। उस वनभोज के प्रथम दिन मैंने अपने हाथ से पकाया है, देखकर ठाकुर ने स्वयं भी भोजन ग्रहण किया था। यह जानकर कि वे ब्राह्मणेतर किसी दूसरे वर्ण के मनुष्य के हाथ का पकाया हुआ अन्न नहीं खाते हैं, मैं उनके लिए मन्दिर का प्रसादी अन्न मँगवाने का प्रबन्ध कर रहा था, किन्तु मुझे मना करते हुए उन्होंने कहा, "तेरे जैसे शुद्ध सत्त्वगुणी के हाथ का अन्न खाने से कोई दोष नहीं होगा।" बारम्बार मेरे आपत्ति करने पर भी उन्होंने मेरी बात को न माना और उस दिन मेरे हाथ का पकाया हुआ अन्न ग्रहण किया था।[२८]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१४. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. २३५; **१५.** श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, खण्ड २, पृ. ९८४; **१६.** वही, पृ. ९८०-८१; **१७.** वही, पृ. ९८१; **१८.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, सं. २००८, खण्ड २, पृ. ६८४; **१९.** वही, खण्ड १, पृ. ८८; **२०.** वही, खण्ड २, पृ. ८४६; **२१.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. २६०-६१; **२२.** वही, पृ. २७०; **२३.** वही, खण्ड ३, पृ. १०१; **२४.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ. ८४१; **२५.** वही, खण्ड २, पृ. ८३५; **२६.** श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, खण्ड २, पृ. १२४१; **२७.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ. ८८३; **२८.** वही, पृ. ८८३-४

धरती नन्दनवन हो जाये

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दनवन हो जाये।
युगों-युगों से मानव-मन का
अब साकार स्वपन हो जाये।।

जड़ में भी अब कोपल फूटे,
जाल जटिल जड़ता का टूटे,
द्वेष-कपट का विषघट फूटे,
कोई नहीं किसी को लूटे।
छूटे मैल मलिन भावों का,
उज्ज्वल जन-जीवन हो जाये।
इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दनवन हो जाये।।

उतरें धरती पर नभ तारे,
सजे अल्पना सब के द्वारे,
सबको लगें सभी जन प्यारे
कोई नहीं रहे मन मारे।
सच्ची समता-समरसता ही
सबका जीवनधन हो जाये।
इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दनवन हो जाये।।

ज्योति सुमति की सबमें जागे,
भेद-भाव का भय भी भागे,
धरती नहीं धैर्य को त्यागे,
हों न कहीं भी लोग अभागे;
सद्भावों के शुभ सुमनों से
सुरभित सबका मन हो जाये।
इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दनवन हो जाये।।
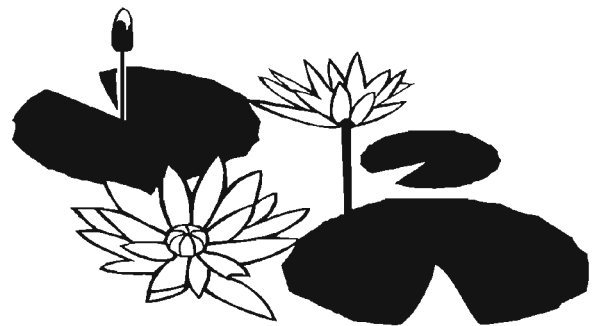
साधना, शरणागति और कृपा (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा । जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ।। ...
नृप उत्तानपाद सुत तासू । ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू ।।
लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही । बेद पुरान प्रसंसहिं जाही ।।
देवहूति पुनि तासु कुमारी । जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ।।
आदि देव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहिं कपिल कृपाला ।।...
तेहिं मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला।
होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन ।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ।। १/१४२

– "स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नी शतरूपा ...से मनुष्यों की यह अनुपम सृष्टि हुई ।... राजा उत्तानपाद उनके पुत्र थे, जिनके पुत्र हरिभक्त ध्रुवजी हुए। मनुजी के छोटे पुत्र का नाम प्रियव्रत था... । देवहूति उनकी कन्या थी, जो कर्दम मुनि की प्रिय पत्नी हुई, जिन्होंने आदि देव, दीनों पर दया करने वाले, समर्थ एवं कृपालु भगवान कपिल को गर्भ में धारण किया।... मनुजी ने बहुत समय तक राज्य किया और सब प्रकार से भगवान की आज्ञा का पालन किया। यह सोचकर उनके मन में बड़ा दु:ख हुआ कि घर में रहते ही बुढ़ापा आ गया, पर विषयों से वैराग्य नहीं हुआ, जन्म श्रीहरि की भक्ति बिना व्यर्थ ही चला गया।"

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज और अन्य समुपस्थित सन्त महानुभावों के चरणों में प्रणाम करता हूँ। भगवत्कथा श्रवण करने के लिये आप सभी जो एकत्र हुए हैं, उनका भी मैं अभिनन्दन करता हूँ। आपके सामने जो चौपाइयाँ पढ़ी गईं, इसमें महाराज मनु के वंश-परम्परा का वर्णन है।

मनु से प्रारम्भ करने का उद्देश्य क्या है? हम सब अपने को 'मनुष्य' मानते हैं और इस मनुष्य-जाति के आदि-पुरुष का ही नाम मनु है। वस्तुत: मानव-शरीर ग्रहण करने के बाद व्यक्ति के सामने बहुत-सी समस्याएँ आती हैं, जिनका वह समाधान ढूँढ़ता है; स्वयं प्रयत्न करता है और जिन लोगों पर उसका विश्वास है, उनसे जिज्ञासा प्रगट करता है। वह सन्त तथा सद्गुरु के माध्यम से इन समस्याओं का समाधान पाने की चेष्टा करता है। इन समस्याओं के मूल में दो बड़े महत्त्व के शब्द हैं – सुख और दुख। हर व्यक्ति सुख चाहता है और साथ ही यह भी चाहता है कि जीवन में दुख न आये, पर यह सम्भव नहीं हो पाता। अत: इस समस्या का हल पाने के लिये वह विभिन्न पद्धतियों का आश्रय लेता है।

सुख-दु:ख की एक धारणा ध्रुव के जीवन में दिखाई देती है। जब वे पिता की गोद से उतार दिए जाते हैं, तो उन्हें अपमान का अनुभव होता है। छोटी रानी के प्रति महाराज की अधिक आसक्ति है। जीवन में, परिवार में, समाज में भी ऐसा ही होता है। व्यक्ति की यह आसक्ति समान नहीं हो सकती। वैसे बुद्धि से तो समानता की बात कही जाती है, वह आदर्श भी है, परन्तु व्यक्ति के मन में जो आसक्ति है, वह तो विवेक से प्रेरित नहीं होती। इसीलिये यह स्वाभाविक है कि कोई वर्ग या कोई व्यक्ति मनुष्य की आसक्ति का केन्द्र बन जाय। जैसा कि स्वाभाविक है कि इस आसक्ति के कारण व्यक्ति न्याय की स्थिति में नहीं रह पाता।

ध्रुव यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र थे। उन्हें पिता की गोद में बैठने का अधिकार था। वे कोई सिंहासन के उत्तराधिकारी के रूप में नहीं बैठ रहे थे। वे एक बालक के रूप में पिता की गोद में बैठना चाहते थे, किन्तु उनकी विमाता को यह असह्य था, क्योंकि उन्हें इसमें भविष्य को लेकर एक आशंका दिखती है कि ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते यह राज्य प्राप्त करेगा। वे प्रयत्न करती हैं कि हम इसका गोद में बैठने का अधिकार छीन लें। मानव जीवन के आरम्भ से आज तक आसक्ति और पक्षपात की यह वृत्ति उसमें समान रूप से दिखाई देती है।

इसके बाद इस कथा के माध्यम से एक दूसरे महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर संकेत किया गया है। अपमानित अनुभव करने के बाद ध्रुव अपनी माँ के पास जाते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि पुत्र के प्रति अन्याय की बात सुनकर माता के मन में आक्रोश हो जाता है। हो सकता है कि ध्रुव की माता सुनीति भी क्रुद्ध होकर महाराज से लड़ने के लिये पहुँच जातीं। तब एक संघर्ष की स्थिति बन सकती थी। समाज में प्राय: ऐसा ही दिखाई देता है। परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

सुमति को हम विचार या सद्बुद्धि कह सकते हैं। सद्बुद्धि वह है, जिसने अपने पुत्र को उस दुख तथा पीड़ा के समाधान के लिये दूसरी दिशा में प्रेरित किया। उन्होंने अपने पुत्र से कहा – यदि तुम सचमुच अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हो, तो इसका उपाय यह है कि तुम ईश्वर की भक्ति करके, ईश्वर को प्रसन्न करके उस काम को पूर्ण कर

सकते हो। ध्रुव कोई युवक नहीं है, छोटे बालक हैं। और बालक तो स्वाभाविक रूप से ही निर्बल होता है।

संसार में अनेक ऐसे कार्य हैं, जिनमें एक व्यक्ति सफल होता है और दूसरा व्यक्ति असफल। परन्तु भक्ति में इतनी सरलता है कि हमारे पास जितनी वृत्तियाँ हैं, उन सबका भक्ति में सदुपयोग हो सकता है। हममें जो-जो अच्छी या बुरी वृत्तियाँ हैं, उन सारी वृत्तियों को यदि हम सही दिशा में मोड़ सकें, तो इतने मात्र से ही भगवान को प्रसन्न किया जा सकता है। सबलता को गुण माना जाता है और निर्बलता गुण की कमी है, दोष है। एक बात कही जाती है कि व्यक्ति को सबल बनना चाहिए। उपनिषद् में ठीक ही कहा गया है – निर्बल को आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती –

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।। (कठोपनिषद्)

परन्तु इसका अर्थ है कि व्यक्ति में आत्मबल हो, मनोबल हो और तब व्यक्ति उस परम सत्य का साक्षात्कार करे। ठीक है, किन्तु भक्ति की दृष्टि थोड़ी भिन्न है। बल का मार्ग तो है ही, पर निर्बलता के द्वारा भी प्रभु को प्रसन्न करना सम्भव है। उसका दृष्टान्त बड़ा स्पष्ट है – एक ही माता के जब दो पुत्र होते हैं, तो बड़ा पुत्र अपनी योग्यता से परिवार में सम्मान पाता है। परिवार के सदस्य उनको आदर देते हैं। बड़े स्नेह के साथ उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं। पर नन्हा बच्चा अपनी माँ से जो स्नेह पाता है, वह किसी योग्यता का परिणाम नहीं होता। इसे यों कह लीजिए कि उसका बल तो केवल आँसू बहा लेना है, रो देना है। ठीक उल्टी बात है। उसके रोने की आवाज सुनकर माँ दौड़ी चली आती है। उसे गोद में उठा लेती है। माँ कभी उसे यह उलाहना नहीं देती कि दिन-रात बस पड़ा रहता है, केवल भूख लगी तो मुझे याद कर लेता है। माँ दौड़कर उसको गोद में ले लेती है और दुग्धपान कराकर उसकी क्षुधा को शान्त करती है।

यदि संसार की माता में इतना वात्सल्य है कि वह अपने बालक की असमर्थता को समझकर स्वयं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, उसे वात्सल्य तथा स्नेह प्रदान करती है। माँ के हृदय में, बड़े और समर्थ बालक की तुलना में इस नन्हें शिशु का महत्त्व जरा भी कम नहीं है, बल्कि दिखाई तो यह देता है कि उसका मन सतत इस नन्हें शिशु की ओर ही लगा रहता है। शिशु की असमर्थता के कारण उसके प्रति माँ का प्रेम और भी बढ़ता है।

भक्तिशास्त्र की मान्यता यह है कि हम जिसे जगन्माता या जगत्पिता के रूप में देखते हैं, उसमें इस जागतिक माता से कम वात्सल्य है क्या? यदि उसमें ऐसा ही वात्सल्य है, तो अपनी असमर्थता के द्वारा भी उन्हें प्रसन्न किया जा सकता है। बड़ी सरल-सी बात है। परन्तु यह सरल ही तो बड़ा कठिन हो जाता है। सुनने में तो यह बात बड़ी मीठी है कि छोटा बच्चा योग्यता से नहीं, असमर्थता से माँ को पा लेता है, परन्तु यह छोटे की वृत्ति, सरलता की वृत्ति – क्या व्यक्ति के जीवन में साधना से आ जाती है? इस सरलता को ही शिशु की वृत्ति कहते हैं।

यदि आप युवा हैं, तो भी भक्ति का सदुपयोग है; किशोर हैं, तो भी भक्ति का सदुपयोग है; यदि वृद्ध हैं, तो भी उसका उपयोग है और यदि आप शिशु हैं, तो भी उसका सदुपयोग है। शिशु दो प्रकार के होते हैं। एक तो शिशु शरीर से होता और दूसरा वृत्ति से शिशु होता है। शरीर से चाहे कोई युवक हो या वृद्ध हो, परन्तु यदि वह अपने को असमर्थ अनुभव करता है और आश्रय ढूँढ़ता है, तो उसे शिशुवृत्ति ही कहा जायगा। रामायण के जितने भी शिशु हैं, उनमें भगवान राम के सबसे अधिक प्रिय शिशु लक्ष्मणजी हैं। उन्हें देखकर कभी किसी को शिशु की कल्पना तो होती नहीं। इतने बड़े योद्धा कि जिनके लिए भगवान राम कहते हैं – संसार में जितने भी राक्षस हैं, लक्ष्मण अकेला ही उनका क्षण भर में संहार कर सकता है –

जग महुँ सखा निसाचर जेते।
लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते ।। ५/४३/७

तो भी वृत्ति से वे जीवन भर निरन्तर शिशु ही रहे। इसी कारण जब उन्होंने भगवान राम के एक उपदेश को अस्वीकार कर दिया, फिर भी प्रभु रुष्ट नहीं हुए। उन्हें मानना पड़ा कि लक्ष्मण ठीक कह रहे हैं। वन-गमन के प्रसंग में – लक्ष्मणजी जब यह समाचार सुनते हैं, तो बड़े व्याकुल होकर प्रभु के चरणों में गिर जाते हैं। उन्हें आशंका है कि पता नहीं प्रभु मुझे साथ लेंगे या मुझे छोड़ जाएँगे। उस समय प्रभु उन्हें उपदेश देते हैं, "**भावना के प्रवाह को कर्तव्य से विरत नहीं हो जाना चाहिये।** मैं जानता हूँ कि तुम्हारे अन्दर वीरता की वृत्ति है, लेकिन आज मुझे लगता है कि तुम्हारा व्यवहार वीर जैसा नहीं है। प्रेम के कारण तुम कायर मत बनो।" इसके बाद प्रभु ने उन्हें कर्तव्य-कर्म का उपदेश देते हुए कहा कि लक्ष्मण, तुम देख रहे हो कि इस समय भरत और शत्रुघ्न यहाँ नहीं हैं, पिता वृद्ध हैं और उन्हें मेरे वियोग का दुख है। माताओं की स्थिति बड़ी सोचनीय है, सारी प्रजा अनाथ है, ऐसी स्थिति में क्या तुम्हारा यह कर्तव्य नहीं है कि इस समय तुम यहीं रहकर सबकी सेवा करो –

तात प्रेम बस जनि कदराहू ।। २/६९/८
भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं ।। २/७०/२

जब तक श्रीभरत आकर सिंहासन नहीं सम्हाल लेते, तब तक तुम्हीं राजा के प्रतिनिधि हो। राज-प्रतिनिधि के रूप में तुम यह मत भूलो कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी रहती है, उसे निश्चित रूप से नरक में जाना पड़ता है –

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।। २/७०/६

प्रभु ने लक्ष्मणजी को कर्तव्य का उपदेश दिया। उपदेश बड़ा सार्थक और बड़ा प्रेरक है, किन्तु लक्ष्मणजी ने उसे अस्वीकार कर दिया। परन्तु अस्वीकार करते हुए उन्होंने जो बात कहीं, वह बड़े महत्त्व की है।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिये या भिन्न-भिन्न प्रसंगों में आप भगवान राम का भिन्न-भिन्न रूप देखेंगे। लगता है कि कहीं वे कुछ कह रहे हैं और कहीं बिल्कुल ही बदल गये हैं। इस पर गहराई से विचार करना होगा। एक सज्जन कहने लगे कि राम तो बड़े चालाक राजनीतिज्ञ थे, जैसा मौका देखते, वैसा ही बोल देते थे। परन्तु आप इसे इस दृष्टि से देखें कि श्रीराम की वही भूमिका है, जो एक चिकित्सक की होती है।

भगवान राम ने जो उपदेश दिया था कि भावना के प्रवाह में बहकर व्यक्ति को कर्तव्य कर्म से विरत नहीं हो जाना चाहिए। गुरु, पिता और माता की सेवा करनी चाहिए। किन्तु लक्ष्मणजी ने इसे अस्वीकार करते हुए दो बातें कहीं। उन्होंने कहा – प्रभो, जब आपने ये बातें कहीं, तो मुझे क्या मानकर कहीं? आप मुझे किस रूप में देखते हैं? प्रभु ने पूछा – तुम अपने आपको किस रूप में देखते हो? लक्ष्मणजी ने वही शब्द चुना – मैं तो आपके स्नेह के द्वारा पालित आपका नन्हा शिशु हूँ। किसी हंस के छोटे-से बच्चे से क्या कोई आशा करता है कि वह पहाड़ का बोझ उठा ले?

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला ।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ।। २/७१/४

और इसलिये मैं तो यही कहूँगा – महाराज, न मेरा कोई गुरु है, न पिता और न कोई माता; मेरे तो एकमात्र स्वामी आप ही हैं। संसार में मेरा तो बस एक आपसे ही नाता है –

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू ।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ।।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी ।। २/७१/४, ६

वस्तुत: एक नन्हे शिशु को अन्य लोगों के साथ अपने सम्बन्धों का तो ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। कोई बड़ा बालक यदि खड़ा होकर सबका सम्मान न करे, तो वह बड़ा असभ्य माना जायेगा। परन्तु छोटा शिशु तो किसी को देखकर नहीं उठेगा, किसी को प्रणाम नहीं करेगा। छोटा शिशु किसी से किसी तरह का व्यवहार नहीं रखेगा। परन्तु उस शिशु को देखकर क्या आप कहते हैं – अरे, यह तो बड़ा असभ्य है, मैं आया हुआ हूँ और यह पड़ा हुआ है, खड़ा नहीं हो रहा है, स्वागत नहीं कर रहा है?

लक्ष्मणजी ने जब यह बात कही, तो भगवान श्रीराम को मौन रह जाना पड़ा। उन्हें मान लेना पड़ा कि लक्ष्मण जो कुछ कह रहे हैं, वह कर्तव्य से भागने के लिये नहीं कह रहे हैं। कई लोग तो बहाना बनाने के लिए बड़े ऊँचे वाक्यों का प्रयोग कर देते हैं, परन्तु प्रभु जानते हैं कि लक्ष्मण ऐसे नहीं हैं और वे मना भी नहीं कर सकते। परशुराम के प्रसंग में यही प्रमाण-पत्र प्रभु ने लक्ष्मणजी को दिया था। लक्ष्मणजी की बात से परशुराम को क्रोध आ जाता है। उन्हें तो हर बात पर क्रोध आ जाता था। लक्ष्मणजी की बात उन्हें अच्छी ही नहीं लगती। बोलते ही उनको क्रोध आ जाता है। जब लक्ष्मणजी ने कहा – हमने बचपन में बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ी, तब तो आप चिढ़े नहीं –

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं ।। १/२७१/७

इस पर परशुरामजी और भी नाराज होकर बोले – ऐ राजा के लड़के, तू काल के वश में है, सँभालकर नहीं बोलता –

रे नृप बालक काल बस, बोलत तोहि न सँभार ।। १/२७१

लक्ष्मणजी ने बोलना बन्द कर दिया, तो क्रोध आ जाता है और अगर हँसते हैं, तो भी क्रोध आ जाता है –

हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी ।। १/२७७/६

जब भगवान राम के कहने पर लक्ष्मणजी ने बोलना बन्द कर दिया, तो भी वे राम को उलाहना देने लगे। श्रीराम कह सकते हैं – महाराज, अब तो न हँस रहा है और न बोल रहा है, फिर आपके क्रोध का क्या कारण है? बोले – बोल तो नहीं रहा है, हँस भी नहीं रहा है, परन्तु देख कैसा रहा है?

अजहुँ अनुज तव चितव अनैसें ।। १/२७९/७

उन्हें लगता है कि इसके तो देखने में भी व्यंग्य है। अब यदि ऐसी स्थिति आ जाय कि किसी की हर क्रिया से ही व्यक्ति के अन्त:करण में क्रोध आ जाय, तब तो बड़ी समस्या है। भगवान राम ने परशुरामजी से निवेदन किया – महाराज, इस एक बात को ध्यान में रखेंगे, तो आपका क्रोध शान्त हो जायेगा। – कौन सी? बोले – यह बोलनेवाला बच्चा है –

नाथ करहु बालक पर छोहू ।। १/२७७/१

परशुराम की भौंहें टेढ़ी हो गईं। कितना बड़ा बालक है तुम्हारा? तो कह दिया – इस सीधे और दुधमुँहे बच्चे पर क्रोध न कीजिए। इसके बाद भगवान कहते हैं – बच्चे की बात उस दृष्टि से नहीं सुननी चाहिये, जिस दृष्टि से एक विद्वान् की सुनी जाती है। अब तो परशुरामजी के क्रोध की सीमा नहीं। सोचा – यह लक्ष्मण क्या बालक है? एक तो किशोर, फिर इतना बड़ा योद्धा! और राम ने कह दिया – यह तो बालक है। परशुरामजी ने पूछ दिया – अच्छा, तुम्हारा यह बालक कितने दिन का है? कितने बरस का है? इस पर प्रभु ने एक और भी अनोखी बात कह दी – महाराज, यह तो दुधमुँहा बालक है।

सूध दूधमुख करिय न कोहू ।। १/२७७/१

अब तो परशुरामजी और भी क्षुब्ध हो गये – ऐसे व्यक्ति

को दुधमुँहा बालक बताना ! यह क्या इनकी भाषा है? परन्तु पहले उन्होंने जैसे भगवान राम के वाक्यों को सुना और बाद में जब उसके अर्थों की गहराई में दृष्टि डाला, तो उन्हें लगा – अरे, वे जो कुछ कह रहे थे, वह बिल्कुल सही था, मेरे ही समझने में भूल हो रही थी । आगे गोस्वामीजी कहते हैं – श्रीरघुनाथ के कोमल तथा गूढ़ वचन सुनकर परशुरामजी की बुद्धि पर से माया का आवरण हट गया –

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के ।
उघरे पटल परसुधर मति के ।। १/२८३/६

भगवान राम की वाणी सुनने में मृदु है पर रहस्यमयी है । भगवान जब लक्ष्मण को दुधमुँहा बालक कहते हैं, तो इसके पीछे क्या अर्थ है? बाल्यावस्था में भी दो स्थितियाँ होती हैं । बालक प्रारम्भ में तो पूरी तौर से दूध पर ही आश्रित होता है, परन्तु वह ज्यों-ज्यों बढ़ता है, त्यों-त्यों यह माना जाता है कि उसे अन्य वस्तुएँ भी मिलनी चाहिये, क्योंकि उनमें भी शरीर के पोषण के लिए आवश्यक तत्त्व हैं । तब लोग उसे अन्य दूध भी देने लगते हैं, अन्न भी देने लगते हैं, अन्य वस्तुएँ भी देने लगते हैं । भगवान जब लक्ष्मण को दुधमुँहा बालक कहते हैं इसका अभिप्राय यह है कि लक्ष्मण जीवन में कभी दुधमुँहे की अवस्था से आगे बढ़ा ही नहीं ।

यह दूध क्या है? बड़ी सांकेतिक भाषा है । गाय का भी दूध होता है और माँ के द्वारा भी दूध प्राप्त होता है । लेकिन गाय का दूध प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को बहुत कुछ करना पड़ता है । आप गाय पालेंगे, उसके लिये चारे का प्रबन्ध करेंगे, दूहनेवाले का प्रबन्ध करेंगे, स्वच्छ बर्तन में दूहेंगे और तब कहीं आपको दूध प्राप्त होगा । परन्तु जो दूध माँ से प्राप्त होता है, वह व्यक्ति का निर्माण नहीं, बल्कि वह तो ईश्वरीय रचना का परिणाम है । बालक के जन्म के साथ ही माँ के हृदय में जिस सहज वात्सल्य का उदय होता है, उसी से शिशु को सहज रूप से दूध प्राप्त हो जाता है । इसमें उसका कोई प्रयत्न नहीं है, पुरुषार्थ नहीं है, योग्यता नहीं है । जो केवल भगवान की कृपा के दूध पर रहता है, वही मानो शिशुवृत्ति वाला बालक है । कृपा के अतिरिक्त अन्य साधन भी करना चाहिये – यह बड़े बालकों वाली बात है । केवल कृपा से कैसे काम चलेगा भाई, कुछ हमें भी तो करना चाहिए । वह भी ठीक है, परन्तु शिशु के सामने यह बात नहीं है । शिशु अर्थात् जिसे एकमात्र प्रभु की कृपा के सिवा जीवन में अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता का अनुभव न हो । माँ के दुग्ध के द्वारा जिस शिशु का पोषण होता है, उसमें तो कुछ कमी हो सकती है, पर जो ईश्वर की कृपा के दूध से पला हुआ है, उसमें तो ईश्वर की अनन्त शक्ति रहती है । मातृस्तन के दूध में क्षमताएँ हैं, परन्तु कुछ कमी भी है । परन्तु प्रभु की करुणामयी कृपा तो ऐसी शक्तिमयी है कि वह कृपा जिस जीव के जीवन में प्राप्त हो गई; जिसने जीवन में उस कृपा को छोड़कर न कुछ पाया और न पाने की इच्छा की, वह व्यक्ति महान् शक्ति से सम्पन्न है । ऐसा ही लक्ष्मणजी के व्यक्तित्व में दिखाई देता है ।

अत: भक्तिशास्त्र की मान्यता यह है कि यदि हम असमर्थ हैं, निर्बल हैं, तो इसे सांसारिक अर्थों में अवगुण माना जा सकता है, परन्तु भगवद्-भक्ति के सन्दर्भ में यह गुण हो जाता है । यदि हममें शिशु-वृत्ति हो, अपनी असमर्थता का भान हो, तो हम भगवान की कृपा से धन्य हो सकते हैं ।

ध्रुव और मनु की साधना में आपको अन्तर मिलेगा । मनु के जीवन में भी कृपा की बात है, परन्तु ध्रुव नन्हा बालक है । उसे दूध न मिले, कुछ खाने को न मिले, उस पर ध्यान न दिया जाय, तो वह रोने लगता है । बालक ध्रुव का यह जो रोना है, उसकी माँ सुमति ने उसका सदुपयोग सिखाया । माँ की यही विशेषता है । माँ चाहती, तो बालक के मन में ईर्ष्या उत्पन्न कर देती । वे चाहती तो कह देतीं – बेटा, अभी तो तुम चुप रहो, धीरे-धीरे बड़े हो जाओगे, तब राजा को अच्छी तरह से उत्तर देना, तुम सिंहासन पर बैठना । वे इस तरह से ध्रुव को उत्तेजित कर सकती थीं । परन्तु उन्होंने बालक को ईर्ष्या या द्वेष की दिशा में प्रेरित न करके, भक्ति की दिशा में प्रेरित किया । आप जानते हैं कि ध्रुव ने पाँच वर्ष की बाल्य अवस्था में ही भगवान को पा लिया । यहाँ तक कि जब भगवान ध्रुव के समक्ष प्रगट हुए, तो उनमें बोलने की क्षमता नहीं थी, तब भगवान ने जब उनके कपोल से अपने शंख का स्पर्श कराया, तो उसकी वाणी फूट पड़ी ।

इसके दो पक्ष हैं । संसार में हम देखते हैं कि निष्काम व्यक्ति को ही सम्मान और विशेष महत्त्व मिलता है । इसीलिए जो निष्काम हैं, वे तो धन्य हैं ही, पर जो सकाम लोग होते हैं, वे भी निष्कामता का ही दिखावा करते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि यदि लोगों की दृष्टि हमारी सकामता पर पड़ेगी, तो वे हमें हीन-दृष्टि से देखेंगे; परन्तु यदि हम निष्कामता दिखाने की चेष्टा करेंगे, तो लोग हमारा सम्मान करेंगे ।

दूसरी ओर ध्रुव के प्रसंग में, भगवद्भक्ति का यह सूत्र दिया गया कि यह नहीं मानना चाहिये कि सकामता कोई बुरी चीज है, क्योंकि भगवान सकाम व्यक्ति को हीन-दृष्टि से नहीं देखते । जैसे बालक की सकामता को माँ बुरा नहीं मानती, वैसे ही जीव में यदि कामना है, असमर्थता है और इस विषय में यदि वह ईश्वर से कुछ माँगता है, तो भगवान प्रसन्न होकर उसको वह चीज प्रदान करते हैं । भगवान ने, न केवल ध्रुव की कामनाओं को पूर्ण किया, अपितु दिव्य अचलता का ऐसा पद भी दे दिया कि ध्रुव शब्द अचलता का पर्याय ही बन गया । संसार में व्यक्ति जब कोई वस्तु प्राप्त करता है, तो उसके मन में यह चिन्ता बनी रहती है कि वस्तु आई

अवश्य है, परन्तु कहीं चली तो नहीं जायेगी। लेकिन भगवान जब किसी वस्तु को देते हैं, तो – **योगक्षेमं वहाम्यहम्** – भगवान ही उसकी रक्षा भी करते हैं।

हनुमानजी ने रावण के समक्ष इसी अचल पद की ओर संकेत किया। उन्होंने रावण से कहा – तुम भगवान श्रीराम के चरणों को हृदय में धारण करो। रावण को इस पर महान् अपमान का बोध होता है कि मैं एक मनुष्य का चरण हृदय में धारण करूँ! परन्तु यह उनकी सांकेतिक भाषा थी। उसमें उन्होंने एक शब्द और 'अचल' जोड़ दिया, बोले – प्रभु के चरणों को हृदय में धारण करने पर अचलता आ जाती है –

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू।। ५/२३/१

आप चरण शब्द के अर्थ को जानते होंगे। संस्कृत में 'चरण' शब्द गति अर्थ का द्योतक है। **चर-गतौ-भक्षणे च** (पाणिनी, १.३७६)। चरण वह है, जिसके द्वारा आप चलते हैं, जो आपके चलने में सहायक है। चरण में चलने की क्षमता है और इस कारण उसमें चंचलता भी है। इस 'चरण' शब्द का दूसरा पर्यायवाची शब्द 'पद' है। एक ही के दो नाम हैं।

व्यक्ति चाहता है कि हम 'चरण' से चलते रहें, परन्तु 'पद' चाहते हैं कि वह अचल रहे, कहीं चला न जाय। जीवन की यह एक बड़ी समस्या है। 'पद' पाकर कोई नहीं चाहेगा कि वह चला जाय, चाहेगा कि वह 'पद' बिल्कुल न चले, अचल बना रहे, परन्तु 'पद' जब 'चरण' है, तो वह भला अचल कैसे रहेगा! चरण की सार्थकता तो चलने में ही है। व्यक्ति के सामने यह एक बड़ी कठिन समस्या है। व्यक्ति चाहता है कि हम दोनों का आनन्द ले लें।

हनुमानजी ने रावण से कहा कि तुम मेरा कहा मानोगे, तो एक बात होगी – तुम्हें लंका का अचल राज्य मिल जायेगा। सुनकर रावण के क्रोध की सीमा न रही – मैं लंका के सिंहासन पर बैठा हुआ हूँ, राज्य कर रहा हूँ और तुम मुझे मेरे ही राज्य का प्रलोभन दे रहे हो? हनुमानजी ने कहा – "तुमने मेरे एक शब्द पर ध्यान नहीं दिया – तुम्हारा लंका का राज्य अभी 'अचल' कहाँ है। तुम्हें इतिहास की ओर दृष्टि डालनी चाहिए। इसी लंका पर पहले यक्षों का अधिकार था, देवताओं का अधिकार था और अधिकार में क्रमश: परिवर्तन होते हुए आज तुम इस लंका के सिंहासन पर बैठे हुए हो। लंका का राजपद तो तुमने पा लिया है, परन्तु प्रश्न यह है कि यह राज्य कहीं छिन न जाय, चला न जाय।

संसार के सारे 'पद' ही चंचल हैं, निश्चित रूप से चले जानेवाले हैं। 'पद' का त्याग तो करना ही पड़ता है। पहले लोग 'पदत्याग' के बाद अपने नाम के साथ 'भूतपूर्व' लिखा करते थे, पर अब लोग थोड़े सावधान हो गये हैं। शायद उन्हें लगा कि 'भूत' शब्द पर बार-बार व्यंग्य किया जाता रहा है, तो अब 'भूत' शब्द को छोड़कर केवल 'पूर्व' लिखा जाता है। बात तो 'भूत' की ही होती है, लेकिन वह अशुभ न लगे, इसलिए 'भूतपूर्व' न कहकर केवल 'पूर्व' कहते हैं।

संसार में जितने भी 'पद' हैं, वे सब 'भूतपूर्व' हो जाते हैं, परन्तु ईश्वर के विषय में आपने यह कभी नहीं सुना होगा कि ये 'भूतपूर्व' ईश्वर हैं। ईश्वर कोई परिवर्तनशील पद नहीं है। हमारे शास्त्र तो कहते हैं कि सारे पद परिवर्तनशील हैं। इन्द्र का 'पद' भी बदल जाता है। ब्रह्मा का 'पद' भी अचल नहीं है। ये भी 'पद' हैं और यद्यपि ये लम्बे समय तक रहते हैं, पर ये भी बदल जाते हैं। तो हनुमानजी का तात्पर्य यह था कि रावण, तुम यह तो चाहते ही होगे कि तुम्हारा यह 'पद' अचल रहे; यदि तुम इस सांसारिक 'पद' को अचलता का आधार बनाओगे, तो तुम्हारा 'पद' अचल कैसे रहेगा? इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम भगवान का भजन करो और लंका का 'अचल' राज्य प्राप्त करो।

यही 'अचल' शब्द ध्रुव के साथ भी जुड़ गया। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति भक्ति के द्वारा ईश्वर की गोद पा लेता है, ईश्वर का उत्तराधिकारी बन जाता है, तो स्वाभाविक रूप से – न तो ईश्वर 'भूतपूर्व' होता है और न भक्त 'भूतपूर्व' होता है। वह सदा शाश्वत रहता है। अत: व्यक्ति सकामता के द्वारा भी ईश्वर को पाकर धन्यता की स्थिति में पहुँच सकता है। यह तो एक पक्ष हुआ।

परन्तु सचमुच, क्या यही व्यक्ति का चरम लक्ष्य होना चाहिये? मान लीजिए वह 'अचल' हो गया, तो क्या उसके बाद उसके जीवन में फिर कोई समस्या नहीं आयेगी? फिर यदि ईश्वर कोई वस्तु दे भी दे, तो पाने के बाद भी तो व्यक्ति कभी-कभी किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता का अनुभव करता है। माँगनेवाले ने वस्तु का चुनाव अपनी ओर से किया – मुझे यह चाहिए। सकाम व्यक्ति न केवल अपनी कामना की पूर्ति चाहता है, अपितु कामना का निर्णय भी वही करता है। मेरी यह कामना है और आप इस कामना की पूर्ति कीजिये। इस कामना के साथ कई समस्याएँ आ सकती हैं और आती भी रहती हैं। तो यह एक पक्ष है। यह आश्वासन देता है कि यदि ध्रुव के समान हमारे जीवन में भी कामना है, असमर्थता की वृत्ति है, स्पर्धा है, तो इस माध्यम से भी हम भगवद्-भक्ति के द्वारा अपनी इच्छा की पूर्ति कर सकते हैं।

इसका दूसरा पक्ष जानने के लिये हमें मनु की वंश-परम्परा में, देवहूति का जो वर्णन है, उसे देखना होगा – वे उन (मनु) की कन्या थी, जो कर्दम मुनि की प्रिय पत्नी हुई और जिन्होंने भगवान कपिल को गर्भ में धारण किया –

देवहूति पुनि तासु कुमारी।

जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ।। ...
जठर धरेउ जेहिं कपिल कृपाला ।। १/१४२/५-६

श्रीमद्-भागवत में देवहूति की कथा का विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ पर भी बड़ा अद्‌भुत संकेत है। देवहूति राजकुमारी हैं और उनका विवाह हुआ मुनि कर्दमजी से। यह एक बड़ा विचित्र विरोधाभास है। स्वाभाविक तो यह होता कि राजकुमारी का विवाह राजकुमार से हो। समाज में ऐसा ही चुनाव भी किया जाता है। परन्तु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बन गईं कि देवहूति का विवाह ऐसे त्यागी-तपस्वी महापुरुष से हुआ। अब मानो संकेत के रूप में यह एक नई दिशा प्राप्त हुई। यह कथा बड़ी मनोवैज्ञानिक और बड़ी सांकेतिक है। देवहूति पूरे मन-वचन-कर्म से महात्मा की सेवा करती हैं और उन्हीं के समान तपस्वी जीवन व्यतीत करती हैं। वे एक राजकुमारी हैं और उनके अन्तर्जीवन में भी कामना है, परन्तु वे उन कामनाओं को दबाकर पति की सेवा में संलग्न रहकर अपने धर्म का पालन करती हैं। उनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर कर्दम मुनि जब उनसे वर माँगने को कहते हैं, तो वे पुत्र की याचना करती हैं। यहाँ भी कामना का पक्ष है। कर्दम निष्काम हैं और देवहूति में कामना है। निष्काम और सकाम – दोनों का विवाह हुआ और उसमें एक सामंजस्य यह हुआ कि सकाम की सेवा से प्रसन्न होकर जब निष्काम ऋषि कर्दम ने यह जानना चाहा कि तुम क्या चाहती हो, तो उन्होंने कहा कि मैं सन्तान चाहती हूँ। वहाँ बड़ा विस्तृत वर्णन है।

ऋषि ने दिव्य भोग-वैभव की सृष्टि की। विमान की सृष्टि की और देवहूति की समस्त लालसाओं को पूर्ण किया। पर अन्तर्मन से वे विरागी थे। उन्होंने जो कुछ भी किया था, वह केवल देवहूति की भावनाओं की रक्षा के लिए किया था। इसमें उनकी स्वयं की कोई आसक्ति नहीं थी। इसलिए जब देवहूति के गर्भ में पुत्र आ जाता है, तब कर्दम ऋषि एक विचित्र-सा कार्य करते हैं – वन की ओर प्रस्थान करते हैं। कभी-कभी व्यक्ति कहता है कि यह सब तो मैंने अपने लिए नहीं, दूसरों के लिये प्रबन्ध किया है, किन्तु सम्भव है कि उसके पीछे कहीं उसकी अपनी ही भोग-लालसा हो। परन्तु कर्दम मुनि इस संसार में बिलकुल भी आसक्त नहीं हैं।

हमारे ऋषि-परम्परा में यही संकेत प्राप्त होता है। जब श्रीभरत समाज को लेकर चित्रकूट जा रहे थे, तो उस समय भरद्वाज ऋषि ने उन्हें निमंत्रण दिया – रात्रि का विश्राम आप आश्रम में करें। महर्षि भरद्वाज को लगा था कि ये अस्वीकार कर देंगे, क्योंकि उन्हें भरतजी का स्वभाव ज्ञात था। हनुमानजी के चरित्र में भी आप पाते हैं कि उन्होंने मैनाक का निमत्रंण स्वीकार नहीं किया था। लेकिन यहाँ एक अद्‌भुत बात हो गई। जब भरद्वाज मुनि ने कहा कि आप रात्रि में सेना सहित यहाँ विश्राम करें, तो श्रीभरत बोले – मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ। इसके पीछे भरतजी की भावना बड़ी उदात्त थी। मैनाक ने जब हनुमानजी से कहा था कि विश्राम कर लीजिये, तो वह शारीरिक विश्राम की चिन्ता कर रहा था और श्रीभरत को भरद्वाजजी के आश्रम में जो विश्राम मिला, वह था – भगवान के मंगलमय गुणानुवाद तथा चरित्र की चर्चा के रूप में। भगवान राम ने भी रात्रि में भरद्वाज मुनि के आश्रम में विश्राम किया था। वे सुनना चाहते हैं कि वहाँ प्रभु ने कैसे दिन व्यतीत किया और रात्रि में क्या चर्चा हुई थी। भरतजी कथा के बड़े प्रेमी हैं, महान् कथा-रसिक हैं। इतने बड़े कथारसिक हैं कि अवसर आने पर कभी-कभी भगवान से भी दूर जाकर कथा सुनते हैं।

गोस्वामीजी ने वर्णन किया है कि राम-राज्याभिषेक के बाद लक्ष्मणजी तो प्रभु की सेवा में लगे रहे, क्योंकि वे तो एक क्षण भी प्रभु को छोड़कर कहीं जाने को प्रस्तुत नहीं हैं, परन्तु भरतजी और शत्रुघ्नजी क्या करते हैं? वे हनुमानजी को पकड़ते हैं – महाराज, थोड़ा उधर चलिये। हनुमानजी श्रीभरत को इतना महत्त्व देते हैं कि वे उनके आदेश को अस्वीकार नहीं कर सकते। हनुमानजी इसको भी सेवा मानते हैं – प्रभु की सेवा भी सेवा है और श्रीभरत की सेवा भी प्रभु की ही सेवा है। तो वे भरतजी के साथ जाकर किसी वाटिका में बैठ जाते हैं और तब वहाँ कौन-सी चर्चा चलती है –

भरत सत्रुहन दोनउ भाई ।
सहित पवनसुत उपबन जाई ।।
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा ।
कह हनुमान सुमति अवगाहा ।। ७/२६/४-५

अब आप कल्पना कीजिए कि जब मेरी कथा पूरी हो जाय और उसके बाद आप लोगों में से कोई कह दे कि ठीक से सुन नहीं सका, थोड़ा-सा एक बार फिर सुना दें, तो शायद मुझे बड़ा बुरा लगेगा, क्रोध भी आ सकता है – तुम सोते रहे, तो मैं दुबारा क्यों सुनाऊँ, तुमने नहीं सुना, नहीं समझे, तो मैं क्या कर सकता हूँ? लेकिन यहाँ एक अनोखी बात है। सुन चुकने के बाद भरतजी फिर हनुमानजी से कहते हैं – एक जगह थोड़ा-सा समझ में नहीं आया। ऐसा मत समझना कि उनको समझ में नहीं आता था। महापुरुष लोग, समझे हुए हों, तो भी, एक तो वे स्वयं अत्यन्त विनम्र होते हैं और दूसरी बात यह कि उन्हें सुनकर इतना आनन्द आता है कि वे उसे बारम्बार सुनना चाहते हैं –

सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं ।
बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं ।। ७/२६/६

फिर एक बार, फिर एक बार ! हनुमान जब दुबारा-तिबारा कहते हैं, तो स्वाभाविक है कि हर बार वे एक नये रस में कहते हैं। वक्ता और श्रोता – दोनों ही अद्वितीय हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

आत्माराम के संस्मरण (३३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

आसाम के जोरहाट नगर में (१९३६)

संन्यासी १९३४-३६ में और १९४० में पुन: आसाम गया था। श्रीरामकृष्ण की जन्म-शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य में वहाँ के एक प्रसिद्ध शहर (जोरहाट) गया था। साथ में सिलहट के एक संन्यासी देवेश महाराज भी थे। वहाँ एक धनाढ्य बंगाली व्यवसायी के नवनिर्मित भवन में ठहरने की व्यवस्था हुई थी। वह मकान खाली पड़ा था। सारी रात ट्रेन में यात्रा करके थक गये थे। गाड़ी भोर में वहाँ पहुँची। एक बंगाली डॉक्टर इस उत्सव के संयोजक थे और वे ही अपनी मोटर-गाड़ी में स्टेशन से वहाँ ले गये। घर के वृद्ध मालिक दरवाजे पर खड़े थे। उतरते ही संन्यासी से बोले, "यहाँ क्यों आये हैं? जानते नहीं कि आसामी लोगों के साथ नहीं बनती? उन लोगों ने बंगाली लोगों को प्रताड़ित करना शुरू किया है। आप लोगों के अपमानित होने पर ...।"

उसी गाड़ी में हमारे साथ एक आसामी भक्त भी थे। वे भी उस उत्सव के आयोजकों में से एक थे। ये वृद्ध सज्जन उन्हें पहचानते थे, तो भी यह सब बोल रहे हैं – यह देखकर संन्यासी ने उनके वक्तव्य में बाधा देते हुए कहा, "महाशय, हम ट्रेन की यात्रा करके थके हुए हैं। अभी आपके साथ यह सब चर्चा करने का समय नहीं है। इन लोगों ने हमें निमंत्रित किया है, इसीलिये आये हैं।" इतना कहकर उनके बगल से होकर मकान के अन्दर चला गया। इसके बाद वे आसामी भक्त आकर बोले, "आप लोग कुछ ख्याल मत कीजियेगा, वे ऐसे ही कहा करते हैं। सभा बहुत अच्छी होगी, महाराज।" डॉक्टर ने भी हामी भरी।

शाम को टाउनहॉल में सभा हुई। लोगों की काफी भीड़ थी। सब आसामी लोग ही थे – बंगालियों में केवल डॉक्टर, उनकी पत्नी तथा एक अन्य सज्जन उपस्थित थे। एक विशिष्ट जमींदार, बैरिस्टर तथा असमिया भाषा के एक विद्वान् सभा की अध्यक्षता कर रहे थे।

संन्यासी ने खड़े होकर कहा – "मैं तो बँगला में ही बोल सकूँगा और आप सभी लोग बँगला जानते-समझते हैं।"

– "हाँ, हाँ, अवश्य। हम लोग तो आपका व्याख्यान सुनने के लिये आये हुए हैं।" (यह बात उन लोगों ने असमिया भाषा में कही।)

बड़ा हॉल पूरा भरा हुआ था और स्थानाभाव के कारण बहुत-से लोग बाहर भी खड़े थे। संन्यासी ने श्रीरामकृष्ण की साधना, उपदेश तथा उनके उदार मतवाद के विषय में करीब डेढ़ घण्टे तक व्याख्यान दिया। सबने पूर्ण मनोयोग के साथ सुना। पूरी खामोशी छाई हुई थी। माइक की व्यवस्था न होने से संन्यासी को चिल्ला-चिल्लाकर बोलना पड़ रहा था।

इसके बाद अध्यक्ष ने असमिया भाषा में पूरे व्याख्यान का सारांश बताते हुए कहा – "रामकृष्ण हम लोगों के हैं। हम लोग उनकी इस पावन शताब्दी के अवसर पर उनकी बातें सुनकर धन्य हुए। कल भी आपको बोलना होगा और हम लोग उनके विषय में सुनेंगे। आशा करता हूँ कि कल आप उनके 'समन्वयवाद' पर बोलेंगे।"

अगले दिन शाम को उसी टाउनहॉल में – इतनी भीड़ हुई कि भीतर जाने के लिये मुश्किल से रास्ता हुआ। सभा के काफी पहले से ही भीड़ एकत्र हो गयी थी। उस दिन एक अन्य आसामी (श्री बेजबरुआ) को सभापति बनाया गया था। ये कौंसिल के एक विशिष्ट सदस्य थे। संन्यासी ने विभिन्न सम्प्रदायों तथा मतवादों के विषय में करीब दो घण्टे तक व्याख्यान दिया। इसके बाद सभापति का अभिभाषण था। उन्होंने पहले तो व्याख्यान की प्रशंसा की, पर उसके बाद बोले, "परन्तु इन्होंने हमारे शंकरदेव के बारे में कुछ भी नहीं कहा।" करीब बीस मिनट तक वे बारम्बार यही कहते रहे – "इन्होंने हमारे शंकरदेव के बारे में कुछ भी नहीं कहा।"

संन्यासी ने देखा कि इसके फलस्वरूप, उसके व्याख्यान का जो प्रभाव हुआ था, वह नष्ट होता जा रहा है। अत: उनका व्याख्यान पूरा हो जाने पर संन्यासी ने – मुझे कुछ कहना है – बोलकर उनकी अनुमति ली और खड़ा हुआ। श्रोतागण उसे सुनने के लिये रुद्ध-श्वांस के साथ उत्सुक थे। हल्की-हल्की फुहारें पड़ रही थीं, परन्तु उस ओर किसी का ध्यान न था। सभापति के अभिभाषण के बाद वक्ता के लिये दुबारा बोलने को कुछ नहीं होता – इस सामान्य नियम का भंग होने से सबके कुतूहल में काफी वृद्धि हो गयी थी।

संन्यासी बोला – "विभिन्न कारणों से शंकरदेव की बात

कहने से रह गयी है –

(१) उनकी कोई अच्छी जीवनी उपलब्ध नहीं है। आसामी भाषा में जो दो जीवनियाँ हैं, वे उतनी अच्छी नहीं हैं और उनमें परस्पर विरोध भी है। (संन्यासी ने अपने आसाम-भ्रमण के प्रारम्भ में ही वे दोनों पुस्तकें पढ़ ली थीं।) उनकी एक सुसंगत तथा अच्छी जीवनी लिखने की जरूरत है। एक जीवनी अंग्रेजी में भी होनी चाहिये।

(२) श्री शंकरदेव की जीवनी से स्वतंत्रता की अपूर्व प्रेरणा प्राप्त होती है। देखिये न – पहले नमक के लिये बारम्बार लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। पड़ोस के राज्य उसे देते ही नहीं थे। उन्होंने ही सबसे पहले केले के वृक्ष से क्षार बनाकर उसे नमक की जगह उपयोग करना सिखाया था। (उसके पत्तों को जलाकर पानी में डुबाकर रखने से ही सफेद क्षार प्राप्त होता है, जो नमक के स्थान पर काम में आ सकता है।) और आज भी प्रत्येक घर में महिलाएँ एक सब्जी उसी क्षार का पानी डालकर बनाया करती हैं। यदि महात्मा गाँधी इस बात को जानते, तो सम्भवत: उन्हें डण्डी मार्च करने की जरूरत ही नहीं पड़ती। उनके साहित्य का अधिक प्रचार न होने के कारण ही भारत के अधिकांश लोग उस विषय में अपरिचित हैं।

(३) उनकी एक अन्य बात भी समस्त भारतवासियों के लिये अनुकरणीय है। उनका आदेश है कि गाँव में आग लगकर किसी का घर जल जाने पर या आँधी-तूफान में उड़ जाने पर समस्त ग्रामवासी मिलकर उस गृहस्थ के गृह-निर्माण में सहायता करेंगे। इसके फलस्वरूप कुछ घण्टों में ही उसका घर तैयार हो जाता है। कोई बाँस देता है, कोई रस्सियाँ देता है, तो कोई शारीरिक परिश्रम से सहायता करता है। उनकी प्रेरणा से आप लोगों में कितनी सुन्दर सहकारिता की वृत्ति विकसित हुई है। ऐसा अन्य किसी भी अंचल में नहीं है। ऐसी सुन्दर स्वत:प्रवृत्त सहकारी वृत्ति अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आती।

(४) इसके सिवा तालाब की वनस्पतियों को जलाकर भी एक तरह का क्षार निकाला जाता है। उसे भी नमक की जगह काम में लाया जाता है।

(५) इसके बाद है – नामघर। इसकी कितनी सुन्दर तथा सरल व्यवस्था है। जाति-पाति का कोई भेद नहीं। फल आदि का भोग देकर पूजा होने के कारण पकाने आदि का कोई झंझट नहीं। सभी लोग लेकर खा सकते हैं। फल आदि वस्तुएँ चढ़ाकर पूजा का कार्य सम्पन्न हो जाता है। मुझे तो लगता है कि मैं जो कुछ देख रहा हूँ और पढ़कर जो कुछ समझा है – इन्होंने भागवती-धर्म के शुद्धा-भक्ति के भाव को ग्रहण किया है। ग्रन्थ-पूजा का भाव भी बहुत अच्छा है। कबीरपन्थी और नानकपन्थी लोग भी ग्रन्थ को ही (सद्गुरु) मानते हैं – भगवान की मूर्ति की कल्पना नहीं करते। शब्द-ब्रह्म की उपासना ही नाम-ब्रह्म की उपासना में परिणत हो गयी है। यह सब अन्य लोग भी जानते हैं। इसीलिये एक बार फिर कहता हूँ कि आप लोग एक अच्छी पुस्तक लिखिये।'' आदि आदि।

श्रोतागण खूब तालियाँ बजाकर आनन्द प्रकट करने लगे। परन्तु सभापतिजी फिर झट से उछलकर खड़े हुए और बोले, ''क्यों, अंग्रेजी में पुस्तक है तो! और आपके लिये उसे पढ़कर आना उचित होता!'' ''अब यह सभा नहीं रह गयी है'' – कहते हुए संन्यासी उत्तर देने के लिये खड़ा हो गया। सभी लोग उत्सुकतापूर्वक देख रहे थे कि देखें, अब ये क्या बोलते हैं! संन्यासी को श्री ठाकुर ने ही बचाया। सहसा उसे स्मरण आया कि 'माडर्न रिविउ' नामक अंग्रेजी पत्रिका के समीक्षा अंश में एक छोटी-सी पुस्तक का उल्लेख आया था, जो बहुत पहले बड़ौदा से छपी थी। उसने सभापति से पूछा, ''क्या आप बड़ौदा से प्रकाशित पुस्तक के विषय में कह रहे थे?'' उन्होंने ज्योंही हामी भरी, त्योंही संन्यासी थोड़ा-सा हँसते हुए बोला, ''वह पुस्तक तो छोटे बच्चों की खुराक है। मेरा पेट थोड़ा बड़ा है, क्या मेरा पेट उससे भर सकता है?'' बस! जय भगवान!

सब श्रोतागण और सभापति भी खिलखिला कर हँसते हुए उठकर खड़े हो गये। सभापति ने संन्यासी का हाथ पकड़कर कहा, ''आपके सामने मैं हार स्वीकर करता हूँ।''

हे भगवान! वह अन्तिम दिन होने के कारण उस दिन 'धन्यवाद कमेटी' की ओर से धन्यवाद का प्रस्ताव देने की बात थी और वह अभी बाकी था। इसलिये लोगों से कृपा करके थोड़ी प्रतीक्षा करने को कहा गया। कमेटी ने जिन्हें धन्यवाद देने के लिये निर्धारित कर रखा था, सभापति ने उन्हें नहीं बुलाया। सामने ही 'बातरी' साप्ताहिक के सम्पादक बैठे थे। उन्हीं से यह अन्तिम कृत्य सम्पन्न करने को कहा। सर्वनाश! ये ही तो वहाँ बंगाली-विद्वेष के नायक थे। कमेटी के सदस्यों के तो मुख और कलेजा – दोनों ही सूख गये। आकर मुझे का कानों में बता गये कि ये ही इस आन्दोलन के मुख्य प्रवक्ता हैं। हे भगवान, अब तक जो किसी प्रकार रक्षा हुई थी, लगता है कि सब नष्ट हुआ!

परन्तु उनकी लीला कौन समझेगा? उन लीलामय भगवान ने एक बार फिर लीला दिखाई। 'बातरी' के सम्पादक एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे। उनकी बातें सुनने के लिये लोग उत्सुक होकर खड़े रहे। उन्होंने असमिया भाषा में दस मिनट तक जो कुछ कहा, उसके द्वारा अमृत-वर्षण किया। संक्षेप में अपना स्वयं का परिचय देने के बाद वे बोले, ''आज मैंने जो

कुछ सुना, उससे मेरा हृदय भर गया है। मैं बातरी का सम्पादक हूँ, मैं आप लोगों से कहता हूँ – रामकृष्ण, हम सभी लोगों के भी उतने ही अपने हैं, जितने कि बंगाल या सम्पूर्ण विश्व के। मैं आप लोगों से कहता हूँ, 'वचनामृत' को आप सभी लोग पढ़िये और अपने नित्य पाठ में रखिये। और मैं रामकृष्ण मिशन से कहूँगा कि उन लोगों ने 'वचनामृत' का असमिया भाषा में अब तक अनुवाद क्यों नहीं किया !''

संन्यासी ने जल्दी से सभापति से पूछा कि सम्पादक ने अपनी पढ़ाई कहाँ की है? पता चला कि वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक हैं, रवीन्द्रनाथ के विश्वभारती विश्वविद्यालय में भी थे और बँगला भाषा में पारंगत हैं।

बातरी-सम्पादक अपना वक्तव्य पूरा करके बैठने ही वाले थे, तभी संन्यासी ने हाथ के इशारे से जन-समुदाय को बैठे रहने को कहा और बातरी-सम्पादक से बोला, ''हम लोगों को तो असमिया भाषा सीखकर अनुवाद करना होगा, पर आप तो बँगला भाषा के विद्वान् हैं, आपने स्वयं ही यह अनुवाद क्यों नहीं किया? आपके करने से वह बहुत सुन्दर होगा !''

इतना सुनते ही बातरी-सम्पादक उछलकर मंच पर आ गये और उसका हाथ पकड़कर बोले, ''मैं आपके समक्ष हार मानता हूँ। मैं बहुत आनन्दित हूँ। इतना आनन्द जीवन में पहली बार मिला है। (यह सब उन्होंने असमिया भाषा में ही कहा।) जन-समुदाय ने आनन्दपूर्वक तालियाँ बजाते हुए सभा की कार्यवाही को पूर्णाहुति प्रदान किया। सम्पादक संन्यासी के साथ बातें करते हुए बहुत दूर तक गये थे।

बाद में पता चला कि भय के कारण उन्हें सभा के विषय में सूचित ही नहीं किया गया था। दूसरे दिन की सभा में वे स्वयं ही आये थे और पहले दिन की सभा के बारे में सूचित न किये जाने के कारण कमेटी के सदस्यों को कुछ कड़ी बातें भी सुनाई थी। अस्तु। भगवान की अपार कृपा से सभा का कार्य सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो सका था।

इसके बाद संन्यासी ने सुना कि गृहस्वामी वृद्ध महाशय ने प्रत्येक बंगाली के घर जाकर सभा में जाने से यह कहकर मना किया था कि वहाँ झगड़ा होने की सम्भावना है। इसीलिये पहले दिन की सभा में उन तीन लोगों को छोड़कर बाकी बंगाली लोग नहीं आये थे। बाद में लज्जित होकर अन्तिम दिन की सभा में १५-२० युवक आये थे।

यह सब जानकर संन्यासी को बड़ा दु:ख हुआ। वह वृद्ध महाशय से मिलकर उन्हें यह समझाने को बाध्य हुआ – ''आपका इस प्रकार का आचरण ही इस जातीय झगड़े का मूल कारण है। आपके देश लौट जाने से ही बंगाली-समाज का मंगल होगा। आपकी बात सुनकर यदि हम लोग लौट जाते, तो सोचिये क्या होता ! आप वृद्ध हैं, सबकी श्रद्धा के पात्र हैं, आपका यह कैसा भाव है? आप जैसे लोग ही इस विद्वेष के प्रसार में सहायक होते हैं। आशा करता हूँ कि भविष्य में आप कभी ऐसा आचरण नहीं करेंगे। भला व्यवहार करने से उन लोगों के मन में जो विद्वेष-विष प्रविष्ट हुआ है, वह धीरे-धीरे दूर हो जायेगा। देखिये, ये भक्त (असमिया सज्जन) हम लोगों के साथ ही खड़े थे। आप इन्हें पहचानते हैं, तो भी आप हम लोगों से वैसी बात कह रहे थे। यह आपका कैसा व्यवहार है? आपके समान प्रतिष्ठित तथा बंगाली समाज के नेतृ-स्थानीय व्यक्ति को ऐसी मनोवृत्ति क्या शोभा देती है !'' उन्होंने चुपचाप सब कुछ सुना।

अगले दिन उसी उत्सव के उपलक्ष्य में एक अन्य बड़े नगर में जाना हुआ।

शिवसागर (१९३६)

दूसरा नगर था शिवसागर, जो कभी आसाम की राजधानी था। शताब्दी-सभा एक स्कूल के प्रांगण में आयोजित हुई थी। आसाम के सर्वमान्य नेतृ-स्थानीय व्यक्ति श्री चालिहा सभापति थे। संन्यासी ने जाकर देखा कि लोग ज्यादा नहीं थे – ३५० से ४०० तक रहे होंगे। कहा – ''बँगला में बोलूँगा।'' सभापति तथा अन्य अनेक लोगों ने कहा, ''निश्चय ही। आप बँगला में ही बोलिये। हम वही सुनने आये हैं।''

विभिन्न दार्शनिक मतवादों का सारांश बताने के बाद श्रीरामकृष्ण के समन्वयवाद के बारे में बोलकर व्याख्यान समाप्त किया। लगभग दो घण्टे बोला था। श्री चालिहा बड़े खुश थे, कहा – ''आपको कल भी बोलना होगा और मैं ही अध्यक्षता करूँगा।'' और लोगों से अधिक-से-अधिक संख्या में आने का अनुरोध करते हुए (असमिया भाषा में) बोले, ''यह अमूल्य सुयोग मत छोड़ियेगा।''

अगले दिन काफी भीड़ हुई थी। श्री चालिहा की इच्छा पर संन्यासी ने श्रीरामकृष्ण की साधना के विषय पर चर्चा की और श्री शंकरदेव का भी उल्लेख किया। श्री चालिहा की विशेष इच्छा से इसके बाद वाले दिन भी सभा हुई, परन्तु केवल महिलाओं के लिये। वैसे उन्होंने स्वयं ही इस सभा की भी अध्यक्षता की थी। विषय था – ''श्रीमाँ सारदा।''

इस अन्तिम दिन दोपहर के समय एक उत्तर भारतीय पण्डित ने आकर संन्यासी से भेंट की। वे वहाँ के किसी राष्ट्रीय विद्यालय में हिन्दी पढ़ाते थे। प्रधान अध्यापक का निमंत्रण-पत्र लेकर आये थे। पत्र में उन्होंने सूचित किया था कि विशेष कार्यवश वे नहीं आ सके, इसके लिये उन्होंने क्षमा-प्रार्थना की थी और अनुरोध किया था कि परिदर्शन के लिये अवश्य आयें। हिन्दी शिक्षक ने संन्यासी से कहा, ''परन्तु वहाँ आपकी बँगला नहीं चलेगी। या तो असमिया, नहीं तो हिन्दी में बोलना होगा।'' संन्यासी मन-ही-मन हँसा,

किन्तु मौन रहा।

संस्था नयी-नयी स्थापित हुई थी। उसमें चरखा और कपड़े बुनना सिखाया जाता था और राष्ट्रीय भावना की प्रेरणा दी जाती थी। प्रधान अध्यापक अच्छे सज्जन थे। असमिया होकर भी उन्होंने संन्यासी के साथ शुद्ध बँगला भाषा में बातें कीं। इसके बाद वे विद्यार्थी बालकों की एक छोटी-सी सभा में ले गये और कुछ बोलने को कहा। सभी छात्र असमिया थे। संन्यासी ने बच्चों से पूछा, "तुम लोग मेरी बातें किस भाषा में सुनना चाहते हो – अंग्रेजी, हिन्दी या बँगला? किस भाषा में?" सब एक स्वर में बोले, "बँगला।"

पण्डित सामने ही बैठे थे। संन्यासी उनकी ओर उन्मुख होकर थोड़ा मुस्कुराने के बाद बँगला भाषा में १०-१५ मिनट तक श्रीरामकृष्ण के बारे में बताया उसके बाद कहा, "मैंने सुना है कि तुम लोगों ने बहुत अच्छी हिन्दी सीखी है। जरा बताओ तो, इस दोहे का क्या अर्थ होगा –

तुलसी आये जगत में जगत हँसे तुम रोय।
ऐसी करनी कर चलो कि आप हँसे, जग रोय।।

सभी बच्चे एक-दूसरे का मुख देखने लगे।

सभा समाप्त होने के बाद लौटने के लिये गाड़ी में बैठने के पूर्व संन्यासी ने उन पण्डित को एक किनारे बुलाकर कहा, "आप आसामियों और बंगालियों के बीच झगड़ा कराने आये हैं, या हिन्दी पढ़ाने? इस दुर्बुद्धि का त्याग करके आप अपना काम किये जाइये। क्या आपकी नियुक्ति हिन्दी-प्रचार-संस्था की ओर से हुई है? यदि मैं आपकी इस प्रवृत्ति की बात सूचित करूँ, तो आपकी नौकरी छूट सकती है।"

इतना कहने के बाद जब संन्यासी गाड़ी में बैठने जा रहा था, तो प्रधान अध्यापक ने पूछा – क्या बात है? संन्यासी ने कहा – "उनके साथ थोड़ी-सी उन्हीं के बारे में बात हुई।"

गोलाघाट (१९३६)

आसाम-भ्रमण के प्रारम्भिक दौर में श्रीहट्ट (सिलहट) से गोलाघाट जाना हुआ। वहाँ के भक्त तथा रामकृष्ण संघ के मित्र श्री मोक्षदा बाबू के घर ठहरना हुआ। ये स्कूल के उप-प्रधानाचार्य थे। वहाँ शताब्दी के उपलक्ष्य में आयोजित सभा में संन्यासी ने श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा सन्देश पर बँगला में व्याख्यान दिया। बहुत-से विद्यार्थी आये थे। उनमें से अधिकांश ही असमिया थे और सभी दो घण्टे तक चलनेवाली सभा की कार्यवाही के दौरान चुपचाप बैठे रहे। संन्यासी ने असमिया हेड-मास्टर से पूछा, "लड़के तो इतनी देर तक चुपचाप बैठे सुनते रहे। इन लोगों को कुछ समझ में आया क्या?" लड़कों से पूछने पर दो-एक ने कहा – कुछ-कुछ समझा है, परन्तु बाकी सबने 'नहीं' बोल दिया।

– "तो फिर इतनी देर जो बैठे रहे?"

– "हमें अच्छा लग रहा था।"

गोलाघाट में आसाम के प्रधानमंत्री बड़दलई महाशय के भाई रहते थे। उन्होंने अपना नामघर देखने के लिये निमंत्रित किया। संन्यासी के साथ स्वामी चण्डिकानन्द और सिलहट के दो अन्य लोग भी थे। उन्होंने नामघर में भजन सुनाये। सभी बड़े खुश थे। विदाई के समय बड़दलई महाशय बोले, "हमारे नामघर में प्रवेश करनेवाले आप प्रथम बंगाली हैं और आपके कारण इन लोगों ने भी! (साथ में कुछ स्थानीय बंगाली भी थे।) हम लोग अपने नामघर में बंगाली लोगों को प्रवेश नहीं करने देते।"

❖ (क्रमशः) ❖

पहले ईश्वर को पा लो, फिर संसार के काम करो

पहले ईश्वर की प्राप्ति करो, फिर धन कमाना; इसके विपरीत पहले धन कमाने की कोशिश मत करो। यदि तुम भगवत्प्राप्ति कर लेने के बाद संसार में प्रवेश करो तो तुम्हारे मन की शान्ति कभी नष्ट नहीं होगी।

'एक' की संख्या के बाद शून्य लगाते हुए चाहे जितनी बड़ी संख्या पाई जा सकती है; पर यदि उस 'एक' को मिटा दिया जाए, तो सारे शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। इसी प्रकार, जब तक जीव उस एक-स्वरूप ईश्वर के साथ युक्त नहीं होता, तब तक उसकी कोई कीमत नहीं होती; क्योंकि ईश्वर के साथ सम्बन्ध होने पर ही जगत् में सभी वस्तुओं को मूल्य प्राप्त होता है। जीव जब तक जगत् के पीछे स्थित उस मूल्य प्रदान करनेवाले ईश्वर के साथ संयुक्त रहकर उन्हीं के लिए कार्य करता है, तब तक उसे अधिकाधिक लाभ प्राप्त होता रहता है; लेकिन इसके विपरीत जब वह ईश्वर की उपेक्षा करते हुए अपने स्वयं के गौरव के लिए बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करने में भिड़ जाता है, तब उसे कोई लाभ नहीं मिलता। – *श्रीरामकृष्ण*

परम बल

स्वामी सत्यरूपानन्द

कान्यकुब्ज देश के एक प्रतापी राजा थे महाराज गाधि। उनके एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्र थे विश्वामित्र। महाराज गाधि स्वयं एक प्रजापालक वीर राजा थे। उनके पुत्र विश्वामित्र उनसे भी बढ़कर प्रजापालक तथा पराक्रमी सिद्ध हुए। उन्होंने अपने राज्य का काफी विस्तार किया तथा अत्यन्त वैभवशाली हुए।

विश्वामित्र एक बार अपने मंत्रियों तथा सेना के साथ आखेट के लिये वन में गये। एक वन्य पशु का पीछा करते हुए महाराज वन में बहुत दूर तक निकल गये। परिश्रम के कारण वे बहुत थक गये तथा उन्हें प्यास भी लग आयी। उस गहन वन में उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। थोड़ी दूर पर उन्हें एक आश्रम दीख पड़ा। थके-मादे राजा विश्वामित्र उस आश्रम में जा पहुँचे। वह आश्रम महा-तेजस्वी महर्षि वशिष्ठ का था। महाराज विश्वामित्र को आया देख वशिष्ठ जी ने उनका स्वागत सत्कार तथा उनके विश्रामादि का प्रबन्ध कर दिया। राजा के विश्राम के दौरान ही उनके मंत्री, सैनिक आदि भी उन्हें ढूंढ़ते हुए महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में आ पहुँचे। वशिष्ठजी ने सबका यथोचित स्वागत किया तथा महाराज विश्वामित्र से अपने मंत्रियों, सैनिकों आदि के साथ आश्रम का आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया।

महाराज विश्वामित्र ने ऋषि से निवेदन किया – भगवन्। हमारे साथ सेनापति, मंत्री तथा बड़ी संख्या में सैनिक, आदि हैं। आपको इन सबके भोजनादि की व्यवस्था करने में असुविधा होगी, अत: हमें अपनी राजधानी लौट जाने की अनुमति दीजिए।

महर्षि वशिष्ठ ने आग्रहपूर्वक विश्वामित्र से अपना अतिथ्य स्वीकार करने को कहा तथा उन्हें आश्वासन दिया कि राजा और उनके संगियों के स्वागत-सत्कार में उन्हें कोई असुविधा न होगी।

विश्वामित्र ने ऋषि का आग्रह स्वीकार कर लिया। यथा समय सभी के भोजनादि की व्यवस्था हुई। महाराज विश्वामित्र यह देखकर दंग रह गये कि घोर वन में स्थित उस आश्रम में, उन्हें तथा उनके सैनिकों आदि को जितने विभिन्न प्रकार के पकवान आदि परोसे गये, उस प्रकार का सुस्वादु भोजन तो उनके राज-प्रासाद में भी दुर्लभ था। इतना ही नहीं भोजन आदि के पश्चात् महर्षि वशिष्ठ ने सभी को बहुत मूल्यवान उपहार आदि भी भेंट किये। यह सब देखकर विश्वामित्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने उत्कण्ठापूर्वक महर्षि वशिष्ठ से पूछा – ऋषिवर ! इस गहन वन में स्थित आपके आश्रम में तो अन्तेवासियों की साधारण जीविका चलाना भी कठिन प्रतीत होता है, फिर आपने इतने सुन्दर भोजनादि की व्यवस्था, ऐसे मूल्यवान उपहारों का प्रबन्ध कैसे किया? कृपापूर्वक मुझे इसका रहस्य बताइए।''

महर्षि वशिष्ठ राजा विश्वामित्र को अपनी गोशाला में ले गये तथा एक अत्यन्त सुन्दर हृष्ट-पुष्ट गाय की ओर इंगित करके बोले – ''राजन् ! यह कामधेनु नाम की एक दिव्य गाय है। अतिथि सेवा आदि के लिए जब जिस वस्तु की जितनी भी मात्रा में हमें आवश्यकता होती है, हम इससे माँगते हैं और कामधेनु हमारी आवश्यकताओं के अनुसार सभी वस्तुएँ हमें तत्काल प्रदान कर देती है। आज भी आप सबके सत्कार के लिए हमने इस गाय से ही सारी वस्तुएँ प्राप्त की हैं।''

गाय की अद्भुत क्षमता की बात सुनकर महाराज विश्वामित्र को लगा कि यह अद्भुत गाय तो राजप्रासाद की शोभा है। इसे तो मेरे राजप्रासाद में ही रहना चाहिए। ऋषि के आश्रम में इसकी क्या उपयोगिता? आश्रम की सेवा के लिये मैं महर्षि वशिष्ठ को सहस्रों गाय दे दूँगा। ऐसा विचार कर महाराज विश्वामित्र ने वशिष्ठ जी से कहा – ऋषिवर! इस कामधेनु को तो राजप्रसाद में होना चाहिए। वहीं इसकी विशेष उपयोगिता है तथा वहीं इसका उचित स्थान भी है। इस धेनु के बदले आश्रम की सेवा के लिये मैं आपको सहस्रों गायें प्रदान करूँगा। आप कृपापूर्वक यह गाय मुझे दे दीजिए।

ऋषि वशिष्ठ ने कहा – राजन ! यह कामधेनु आश्रम की सेवा के लिये है। इसी की सहायता से हम अतिथि आगन्तुकों की भी सेवा कर पाते हैं। अत: यह गाय भला हम आपको कैसे दे सकते हैं ?''

वशिष्ठ जी का उत्तर सुनकर महाराज विश्वामित्र का क्षत्रित्व-अभिमान जाग उठा। उन्होंने वशिष्ठजी से कहा – ऋषिवर! आप जानते हैं कि मैं क्षत्रिय हूँ और क्षत्रिय का यह धर्म है कि वह अपनी अभीष्ट वस्तु अपने बाहुबल से प्राप्त करे। यदि आप स्वेच्छा से यह गाय मुझे नहीं देंगे, तो मैं आपके सम्मुख ही बलपूर्वक इसे हर कर ले जाऊँगा।

महर्षि वशिष्ठ ने कहा – ''राजन् ! मैंने आपको अपना मत स्पष्ट बता दिया है। मैं आपको कामधेनु नहीं दे सकता। आपको जो उचित लगे, वह कीजिए।''

ऋषि का स्पष्ट उत्तर सुनकर विश्वामित्र क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने अपने सैनिकों को आज्ञा दी – ''कामधेनु को बाँधकर बलपूर्वक राजधानी ले चलो।''

राजा की आज्ञा पाकर सैनिकगण कामधेनु को हाँकने लगे। किन्तु वह आश्रम के बाहर जाना नहीं चाहती थी। उन्होंने उसे कोड़ों और डण्डों से मारना प्रारम्भ किया। सैनिकों के प्रहार से विचलित होकर कामधेनु रम्भाते हुए ऋषि वशिष्ठ के सामने उपस्थित हुई तथा आँखों से आँसू बहाते हुए ऋषि से बोली – "भगवन् ! ये दुष्ट सैनिक मुझे बलपूर्वक लिये जा रहे हैं। देखिए ये मुझे मार भी रहे हैं। भगवन् ! क्या आपने मुझे सचमुच ही त्याग दिया है ?"

वशिष्ठ ने कहा – कल्याणी ! मैंने तुम्हें त्यागा नहीं है। विश्वामित्र बलपूर्वक तुम्हारा हरण करके ले जा रहे हैं। मैं क्षमाशील ब्रह्मण हूँ, अत: उनका प्रतिकार करना मेरा धर्म नहीं है। यदि तुम मेरे पास रह सकती हो, तो अवश्य रहो। मैंने तुम्हारा त्याग नहीं किया है।"

ऋषि की यह वाणी सुनकर कामधेनु के आँसू थम गये। क्रोध से उसकी आँखें लाल हो उठीं और वह उसे मारने वाले सैनिकों की ओर मुड़ी। गरदन झुकाकर दहाड़ती हुई वह उन सैनिकों पर टूट पड़ी। उसका रौद्र रूप देखकर सैनिक इधर-उधर भागने लगे। कामधेनु ने अपने शरीर के विभिन्न भागों से तरह-तरह के सैनिकों को उत्पन्न किया। जो महाराज विश्वामित्र की सेना की सेना पर टूट पड़े। उनकी मार के सामने विश्वामित्र के सैनिक टिक नहीं सके तथा भयभीत होकर चारों दिशाओं में भागने लगे। कामधेनु के सैनिकों ने उन्हें कोसों दूर खदेड़ दिया। महाराज विश्वामित्र असहाय होकर यह सब देखते रहे। उन्होंने देखा कि महर्षि वशिष्ठ एक ओर शान्त भाव से खड़े सारा दृश्य देख रहे हैं। उन्हें इस प्रकार शान्त खड़ा देखकर विश्वामित्र को क्रोध आ गया। उन्हें लगा कि मेरे सैनिकों की पराजय के कारण ये वशिष्ठ ही हैं। इन्हीं के कारण मेरी यह अवस्था हो गई कि मैं यहाँ असहाय अकेला खड़ा रह गया हूँ। ये ऋषि ही मेरी इस दुर्दशा के कारण हैं। अत: मैं इन्हें ही इसका दण्ड दूँगा। ऐसा सोचकर विश्वामित्र ने अपने धनुष उठाया और महर्षि वशिष्ठ पर वाणों की वर्षा करने लगे। ऋषि वशिष्ठ ने उसी प्रकार अत्यन्त शान्त भाव से एक साधारण बाँस का दण्ड उठाया, उसे ब्रह्मशक्ति से अभिमंत्रित किया तथा उसी के द्वारा विश्वामित्र के बाणों को व्यर्थ कर दिया। अपने बाणों को व्यर्थ जाते देख विश्वामित्र और अधिक क्रोधित हो उठे। अब उन्होंने महर्षि पर दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया। किन्तु वशिष्ठ जी ने पुन: उसी प्रकार शान्तभाव से उसी ब्रह्मदण्ड के द्वारा विश्वामित्र के दिव्यास्त्रों को भी निरस्त कर दिया।

अपने दिव्यास्त्रों को व्यर्थ होता देख विश्वामित्र बड़े ही लज्जित और दुखी हुए। उन्हें यह निश्चय हो गया कि महर्षि वशिष्ठ के पास जो महान् शक्ति है, वह अजेय है। उसे कोई पराजित नही कर सकता। वशिष्ठ जी के पास जो शक्ति थी, वह ब्रह्मशक्ति थी, ब्रह्म का तेज था। महाराज विश्वामित्र ने यह देख लिया था कि उनका अदम्य क्षत्रिय शौर्य, भयंकर दिव्यास्त्रों की विनाशकारी शक्ति महर्षि वशिष्ठ के महान् ब्रह्मतेज के सम्मुख मरुभूमि में गिरनेवाली वर्षा की बूँदों के समान व्यर्थ है। वे खिन्न और उदास हो गये तथा अनायास उनके मुख से यह वाक्य निकल पड़ा –"क्षत्रिय बल को धिक्कार है, ब्रह्मतेज का बल ही सच्चा बल है।"

धिक् बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।

ब्रह्मतेज का ऐसा विलक्षण प्रभाव देखकर महाराज विश्वामित्र के मन में इच्छा जागी कि मुझे भी यह ब्रह्मतेज प्राप्त करना होगा। और ब्रह्मतेज प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है तपस्या। अत: उन्हें लगा कि तपस्या ही परम बल है। यह विचार आते ही उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि वे तपस्या द्वारा अवश्य ही ब्रह्मतेज प्राप्त करेंगे। यह संकल्प करके उन्होंने उसे तत्काल क्रियान्वित करने के लिए अपने सभी अस्त्र-शस्त्रों का परित्याग कर दिया। अपने अत्यन्त समृद्धिशाली राज्य को उन्होंने त्याग दिया, सभी प्रकार के भोगों को तिलांजलि दे दी और घोर तपस्या में डूब गये। इस कठोर तपस्या के फलस्वरूप अन्त में महाराज विश्वामित्र को ब्रह्मतेज की उपलब्धि हुई और वे ब्रह्मर्षि हो गये।

महाभारत की यह कथा हमारे सामने एक बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन करती है और वह यह है कि अन्तिम विजय सदैव सत्य तथा आध्यात्मिक शक्ति की ही होती है। प्रारम्भ में दम्भ और अभिमान पर आधारित भौतिक शक्ति कितनी ही प्रबल क्यों न प्रतीत हो, एक दिन उसे सत्य तथा आध्यात्मिकता के सम्मुख झुकना ही पड़ता है। विश्व का इतिहास इसका साक्षी है। आपात् दृष्टि से देखने पर हिरण्यकशिपु के सामने प्रह्लाद की शक्ति शून्य के समान थी। कंस के सम्मुख वासुदेव की शक्ति क्या थी? त्रिभुवनजयी रावण के सामने वनवासी भगवान श्रीराम की शक्ति कितनी दीख पड़ती थी? सत्य और अहिंसा के व्रती महात्मा गाँधी की शक्ति आपात् दृष्टि से अजेय ब्रिटिश साम्राज्य के सामने क्या थी। किन्तु इन सभी प्रचण्ड भौतिक शक्तियों को सत्य और आध्यात्मिकता की शक्ति से पराजित होना पड़ा। अन्तिम विजय आध्यात्मिक शक्ति की, ब्रह्मतेज की ही हुई। भौतिकता के मद से उन्मत्त दुर्योधन ने महाभारत युद्ध के पूर्व भगवान श्रीकृष्ण को त्याग कर यादवों की नारायणी सेना ग्रहण की थी। यह नारायणी सेना भी तो भौतिक शक्ति की ही प्रतीक थी, जो उस युग में अजेय मानी जाती थी। किन्तु इस अजेय सेना को भी हार माननी पड़ी और उसका भी विनाश हुआ। बाह्य दृष्टि से न्यून दिखने वाली पाण्डवों की सेना को ही अन्तिम विजय प्राप्त हुई।

पाण्डवों ने इस रहस्य को भलीभाँति समझ लिया था

तभी तो उन्होंने भगवान की विशाल नारायणी सेना का त्यागकर युद्ध विरत निशस्त्र कृष्ण का वरण किया और उनके शरणापन्न हुए। अपनी सुविधा के लिये उन्होंने असत्य अन्याय और कपट का आश्रय नहीं लिया। इसके विपरीत सभी कष्टों को भूलकर वे तपस्या का ही जीवन बिताते रहे।

ब्रह्मतेज या आध्यात्मिक शक्ति तपस्या से ही प्राप्त होती है। इसीलिए महाराज विश्वामित्र ने तपस्या का आश्रय लिया था। वह तपस्या क्या थी जिसने महर्षि वशिष्ठ को ऐसी प्रचण्ड शक्ति प्रदान की थी, जिसके सम्मुख महाराज विश्वामित्र का दुर्धर्ष, अजेय समझा जाने वाला क्षत्रिय-बल पर्वत से टकराये हुए बाण के समान व्यर्थ और निरर्थक सिद्ध हुआ?

महाभारत के इस प्रसंग में महर्षि वेदव्यास ने एक गन्धर्व के मुख से इसका रहस्य हमारे सामने उद्घाटित किया है। गन्धर्व महर्षि वशिष्ठ का परिचय देते हुए कहता है –

ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वशिष्ठोऽरुन्धतीपतिः।
तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि।।
कामक्रोधावुभौ यस्य चरणो संववाहतुः
इन्द्रियाणां वशकरो वशिष्ठ इति चोच्यते।।*

वशिष्ठजी ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं। उनकी पत्नी का नाम अरुन्धती है। काम और क्रोध नामक दोनों शत्रु जिन्हें देवता भी नहीं जीत सके, वे वशिष्ठ की तपस्या से सदैव के लिये पराभूत होकर उनके चरण दबाते हैं। इन्द्रियों को वश में करने के कारण वे वशिष्ठ कहलाते हैं।

इन्द्रियों को वश में करना, मन का निग्रह करना – यही है ब्रह्मतेज प्राप्त करने का अमोघ उपाय। काम, क्रोध आदि रिपुओं को पराभूत कर उन्हें सर्वथा अपने अधीन रखना तथा उनकी समस्त शक्तियों को आत्म साक्षात्कार की दिशा में मोड़ देना – यही उपाय है अपने अन्त:करण में स्थित अव्यक्त ब्रह्म की अनुभूति और अभिव्यक्ति का।

महर्षि वशिष्ठ ने रिपुओं को पूर्णत: पराजित कर लिया था। उनका मन और इन्द्रियाँ पूर्णत: उनके वश में थीं। इसी कारण उनके जीवन में वह महान् ब्रह्मतेज प्रगट हुआ, जिसके समक्ष महाराज विश्वामित्र का प्रचण्ड क्षात्र-बल प्रज्वलित अग्नि के सम्मुख एक क्षुद्र पतंगे की भाँति नष्ट हो गया था। ❑ ❑ ❑

* महाभारत, आदिपर्व के अन्तर्गत चैत्ररथ पर्व, अध्याय, १७३/५-६
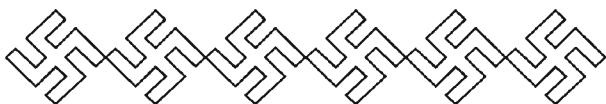
सफलता की कुंजी

श्रीमती कमल भार्गव

कुछ समय से देख रही हूँ, गौरैयाँ मेरे घर अड्डा जमाये हैं। पहले तो वे रात में विश्राम करती रहीं, जब तब पंखे पर बैठ जातीं। भय होता कि किसी ने सहसा पंखा चला दिया, तो वे फड़फड़ाकर उड़ेंगी, यदि पंखे के टकराकर कोई घायल हो गईं तो! अत: मैं जब भी देखती, हल्का-सा पंखा चला देती, ताकि वह उड़कर कहीं और बैठ जाय। मैं अकेली रहती हूँ, इसीलिये उनकी क्रिया नित्य और ध्यान से देखती रहती हूँ।

अब उन्हें प्रजनन के लिये कोई सुरक्षित स्थान चाहिये। धीरे-धीरे उन्होंने अपना घोंसला बनाने के लिये स्थान खोजना प्रारम्भ किया। वे नित्य तिनका-तिनका लाकर एकत्र कर रही हैं। एक ट्यूब-लाईट पर उन्हें घोसले का आकार दे रही हैं। तिनके बार-बार गिर जाते हैं। पर वे परिश्रम में लगी हैं।

Try-try again के नियम पर। तिनके लाती हैं, कुछ गिर जाते हैं, कुछ निर्माण में लग जाते हैं। कचरा हो रहा है। घर के लोगों ने कहा, "ये क्या करा रही हो? उड़ा दो चिड़ियों को; सफाई कराओ।" परन्तु मैं इसके लिये तैयार नहीं हूँ। मुझे अच्छा लग रहा है, एक काम भी मिल गया है। उनका घोसला बनना देख रही हूँ, कितना सफल हुईं वे, कभी तो घोंसला बनकर तैयार होगा।

एक दिन इसमें नन्हे-नन्हें जीवन होंगे, उनकी चहचहाट होगी। वे नन्हीं नन्हीं चोंच खोलकर अपनी माँ से खाने को माँगेंगे। माँ दौड़-दौड़कर कुछ लाकर उनकी चोंच में रखेगी। फिर वे उड़ने की चेष्टा करेंगे। पंख छोटे और अशक्त होंगे, वे नीचे गिरेंगे। मैं हौले से उठाकर उन्हें उनके स्थान पर रख दूँगी। आज देखा, उनका आधा घोंसला नीचे गिर गया। कोई बात नहीं, वे फिर अपने कार्य में लग गई हैं, फिर तिनके ला रही हैं, फिर जमा कर रही हैं। एक दिन यह घोंसला अवश्य बनेगा, वे सफल होंगी प्रयत्न करने से क्या नहीं होता!

जो आगे बढ़ता है, वह कभी ठोकर से नीचे भी गिरता है। फिर उठता है, फिर आगे बढ़ता है। चलनेवाला ही मंजिल पाता है, अपना लक्ष्य प्राप्त करता है। बच्चे गिर-गिर कर ही चलना सीखते हैं। जो मनुष्य ऊँचाई प्राप्त करना चाहता है, प्रगति करना चाहता है, वह गिरता भी है, असफल भी होता है, पर चेष्टा नहीं छोड़ता। गिरकर फिर सँभलता है। फिर एक दिन वह अपने लक्ष्य तक पहुँचता है, अपनी मंजिल पाता है।

यही जीवन है – यही जीवन-क्रम है। जिसने एक बार गिरने के बाद हार मान ली, वह आगे बढ़ेगा ही कैसे? कैसे उन्नति करेगा वह? सफलता का नाम ही है गिरकर सँभलना। सँभलकर फिर आगे बढ़ना। यही सफलता की कुंजी है। ❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१८१. कोरा पंडित गीधसम उड़त ऊँच आकाश

लंका पर विजय पाने के बाद भगवान राम ने विभीषण का राज्याभिषेक कराया और कहा, "अब आप अपने अग्रज रावण की गद्दी पर आसीन हो गये हैं, धर्मपरायण बनकर प्रजा की सुख-सुविधाओं का ख्याल रखियेगा।" विभीषण ने श्रीराम को वचन दिया कि वे उनके आदेशों का भलीभाँति पालन करेंगे और बोले, "प्रभो, एक प्रश्न मेरे मन में बारम्बर उठकर परेशान किये रहता है कि भ्राता रावण, इसने बड़े विद्वान् व महापण्डित होकर भी परस्त्री का अपहरण करने में कैसे प्रवृत्त हुए? क्या कारण है कि उन्होंने अपनी पत्नी, भाइयों तथा अन्य गुरुजनों की सीख को अनसुना कर दिया।"

करुणानिधि श्रीराम बोले, "रावण ने जप-तप, ध्यान-साधना आदि सब किया, परन्तु धर्म के सिद्धान्तों को आचरण में लाकर अपनी चित्तशुद्धि नहीं की। उसने विवेक का आश्रय छोड़कर लोलुपता को प्रश्रय दिया। इसी कारण वह ज्ञानी और चिन्तक होते हुए भी संकीर्ण स्वार्थगत भावना के वशीभूत होकर हीन कर्मों की ओर प्रवृत्त हुआ। वह भौतिक ऐश्वर्य से भ्रमित होकर अहंकार से ग्रस्त हो गया। वह स्वयं भी सुखी जीवन नहीं बिता सका और उसने समस्त स्वजनों को भी संकट में डाला। भावनात्मक स्तर निकृष्ट होने के कारण उसने दुष्कर्म की राह पकड़ी। इसी के परिणाम-स्वरूप अन्त में उसकी ऐसी दुर्गति हुई।"

१८२. नाम जपो श्रद्धा सहित

बंगाल के सन्त हरिदास जब सप्तग्राम गये, तो वहाँ के जमींदार हिरण्य मजूमदार से भी मिलने गये। वहाँ उनके पास बहुत-से लोग आये हुए थे। बातचीत के दौरान जब स्वामी हरिदासजी ने कहा, "भगवन्नाम का जप करनेवाले को उसका फल प्राप्त होता है।" तो इस पर गोपाल मजूमदार नामक युवक ने कहा, "आपका यह कथन वास्तविकता से बिल्कुल परे है। भगवान का नाम लेने से यदि कल्याण होता, तो लोग घर-घर में नाम-जप करते हैं, परन्तु उसका कोई फल होते नहीं दिखाई देता। वस्तुत: आप-जैसे लोग स्वयं को सन्त बताते हुए उन्हें प्रभावित करने के लिये झूठमूठ का उपदेश देते हैं। आप लोग भगवान का हौवा खड़ा करके लोगों को बहकाते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं।"

लोगों ने सुना, तो उन्हें बहुत बुरा लगा, परन्तु स्वामीजी जरा भी विचलित नहीं हुए। वे बोले, "भगवान का नाम त्रिविध तापों को दूर करके शीतलता प्रदान करता है। यदि भगवान पर अटूट श्रद्धा हो, तो वे भक्तों की आर्त पुकार को सुनकर उनकी मनो-कामनाएँ भी पूरी करते हैं। भगवान पर आस्था और सकारात्मक सोच हो, तो उसका परिणाम भी तदनुसार होगा। जैसे सितारवादक पहले तार-सुर मिलाता है और तब बजाना शुरू करता है, वैसे ही ईश्वर का गुणगान करने के पहले मन के सितारों को कसकर फिर उनका नाम स्मरण करना चाहिये।"

सन्त की बातों का उस व्यक्ति पर अब भी कोई परिणाम नहीं हुआ। उसने कहा, "आप कितना भी कहें, फिर भी मेरा दृष्टिकोण बदलने से रहा। मैं तो बारम्बार यही कहूँगा कि भगवान का स्मरण करने या नाम-जप करने से किसी का कल्याण नहीं होता। यदि कोई मेरे इस कथन को गलत सिद्ध कर दे, तो मैं अपनी नाक कटवाने को तैयार हूँ।"

विधि का विधान ऐसा हुआ कि कुछ ही दिनों बाद गोपाल को गलित कुष्ठ का रोग हो गया। रोग ने इतना भीषण रूप लिया कि उसके हाथ-पैर और नाक तक गल गये। एक दिन उसे सहसा उस घटना का स्मरण हुआ और वह यह सोचने को मजबूर हुआ कि भगवन्नाम पर अविश्वास जताने के कारण ही उसकी यह दुर्गति हुई है और नाम-जप में लग गया।

१८३. जात-पात पूछै नहिं कोई

अश्वलायन नामक एक कट्टरपन्थी ब्राह्मण ने गौतम बुद्ध से प्रश्न किया, "जब ब्राह्मणों को धर्मदीक्षा ग्रहण करने का अधिकार दिया गया है, तो अन्य वर्ण के लोग उनसे ईर्ष्या क्यों करते हैं? वे क्यों षोडश संस्कार कराने के लिये इतने लालायित रहते हैं?" उत्तर में बुद्धदेव ने उससे पूछा, "पहले आप यह बतायें कि ब्राह्मण चारों वर्णों में स्वयं को सर्वश्रेष्ठ क्यों मानते हैं?" अश्वलायन बोले, "तपोसाधना से अर्जित ज्ञान के कारण।" बुद्धदेव ने अगला प्रश्न किया, "ज्ञानी होने के कारण क्या ब्राह्मण स्वयं को असत्य, लोभ, छल, चोरी, अन्याय, अत्याचार आदि से दूर रखते हैं?" वे बोले, "ये दुर्गुण तो सभी वर्णों में होते हैं।" बुद्ध ने पूछा, "दुष्कर्मों का फल भी सबको समान रूप से भोगना पड़ता है न?" उत्तर में "हाँ" कहे जाने पर बुद्ध बोले, "जब दुष्कर्मों या पापाचरण करने पर सबको नरक-यातना भोगनी पड़ती है, तो फिर आप इस बात से भी सहमत होंगे कि धर्मदीक्षा पाने और यज्ञोपवीत आदि संस्कार कराने से अन्यवर्णीयों को वंचित करना उचित नहीं।" ब्राह्मण ने हामी भरी और सन्तुष्ट होकर चला गया। ❑

भैरवी ब्राह्मणी

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

श्रीरामकृष्ण तब पच्चीस वर्ष के युवक थे। उन्होंने अपने कमरे[१] में प्रवेश करके अपने भानजे हृदयराम को आवाज दी और कहा, "घाट की चाँदनी में चला जा। वहाँ एक भैरवी[२] को बैठे पाएगा। उसे बुलाकर यहाँ ले आ।"

उनका यह आदेश पाकर हृदय ने संकुचित मन से कहा, "वह महिला अपरिचित है, बुलाने से भला क्यों आने लगी?" एक अपरिचित संन्यासिनी के साथ वार्तालाप करने के लिए मामाजी का ऐसा आग्रह देख वह आश्चर्यचकित हो गया; क्योंकि इससे पूर्व उसने कभी उनको ऐसा करते नहीं देखा था।

श्रीरामकृष्ण ने पुन: जोर देते हुए कहा, "मेरा नाम बताते ही वह चली आएगी।"

* * *

सन् १८६१ ई. में, १९ फरवरी को रानी रासमणि के देहावसान के कुछ दिन बाद की बात होगी। इस समय तक श्रीरामकृष्ण अपने अन्त:करण की प्रेरणा से बहुत-सी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त कर चुके थे, उसके बाद अपनी जन्मभूमि कामारपुकुर में थोड़े समय के विश्राम के लिए भी जा चुके थे, उनका पंचवर्षीया सारदामणि[३] से विवाह हो चुका था और दक्षिणेश्वर लौटने के बाद से ही वे फिर अपनी कठोर साधनाओं में लग गये थे। इस विषय में स्वामी सारदानन्दजी लिखते हैं, "श्रीजगन्माता के सदा सर्वकाल सबके भीतर कैसे दर्शन कर सकेंगे – एकमात्र यही चिन्ता उनके मन में व्याप्त हो गयी। दिन-रात स्मरण-मनन, जप-ध्यान करते हुए उनका वक्ष:स्थल पुन: सर्वदा आरक्त रहने लगा, संसार तथा सांसारिक विषयों की चर्चा विषवत् प्रतीत होने लगी तथा नेत्र से निद्रा न जाने कहाँ विलुप्त हो गयी! कलकत्ते के प्रसिद्ध वैद्यराज गंगाप्रसाद जी ने श्रीरामकृष्ण के निमित्त नाना प्रकार की औषधियाँ तथा तैल आदि की व्यवस्था की थी। किन्तु क्रमश: रोग में वृद्धि ही हुई, लाभ कुछ नहीं हुआ।"[४]

एक दिन प्रात:काल श्रीरामकृष्ण अपनी दिनचर्या के अनुसार गंगातट पर स्थित पुष्पवाटिका में पुष्प-चयन करते हुए कोई भजन गुनगुना रहे थे। इतने में उन्होंने देखा कि एक नाव 'बकुलतला घाट'[५] पर आयी। एक भैरवी उसमें से उतरी और सीढ़ियों से चढ़कर धीरे-धीरे दक्षिण की ओर मुख्य घाट की चाँदनी की ओर बढ़ी। श्रीरामकृष्ण ने उसे ज्योंही देखा, त्योंही वे व्याकुल हो उठे, मानो बहुत समय से उसकी प्रतीक्षा कर रहे हों। वे तेजी से अपने कमरे की ओर लौट पड़े।

बहुत सम्भव है कि श्रीरामकृष्ण को भैरवी के आगमन का पूर्वाभास रहा हो। सम्भव है कि श्रीरामकृष्ण ने अपनी सूक्ष्म योगशक्ति से अपने जीवन में भैरवी के सम्बन्ध का महत्त्व जान लिया रहा हो। स्वामी सारदानन्दजी लिखते हैं, "हमने श्रीरामकृष्णदेव से सुना है कि भैरवी की आयु उस समय लगभग चालीस वर्ष थी। निकट सम्बन्धी को देखकर लोग जिस प्रकार विशेष आकर्षण का अनुभव करते हैं, भैरवी को देखकर उनको भी ठीक वैसा ही हुआ था।"[६]

* * *

हृदय अपने पागल मामा के स्वभाव से भलीभाँति परिचित था। उसके लिये उनके आदेश का पालन करने के सिवाय अन्य कोई उपाय न था। उसने निर्दिष्ट चाँदनी में जाकर देखा एक लम्बे कद की सुन्दर रमणी वहाँ बैठी हुई है, चालीस के करीब उम्र होने पर भी वह अपेक्षाकृत काफी कम उम्र की दिखती है, वह गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए है और उसके केश बिखरे हुए हैं। गले में एक रुद्राक्ष-माला है, एक हाथ में ताड़ के पत्ते की बनी टोकनी में कुछ साड़ियाँ एवं पूजा की सामग्री है और दूसरे हाथ में कपड़े में बँधी हुई कुछ पोथियाँ।[७] उसके आचरण से प्रतीत होता है कि वह किसी सम्भ्रान्त परिवार की है। हृदय ने उससे कहा, "मेरे मामा ईश्वर-भक्त हैं। वे आपके दर्शन करना चाहते हैं।"

इसके बाद के घटना-क्रमों में हृदयराम को विस्मय में डालने के लिए बहुत कुछ था। उसे तब बहुत आश्चर्य हुआ,

१. श्रीरामकृष्ण उस समय 'बाबू की कोठी' के एक कमरे में रहते थे, जिसे पहले हेस्टी साहब ने बनवाया और बाद में रानी रासमणि ने जीर्णोद्धार करवाया था। श्रीरामकृष्ण इसी कमरे में १८६९ या १८७० में अपने भतीजे अक्षय की मृत्यु तक थे। **२.** तांत्रिक सम्प्रदाय की एक संन्यासिनी। **३.** यह विवाह सगाई का ही एक प्रकार था। **४.** स्वामी सारदानन्द कृत 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' भाग १, प्र. सं. पृष्ठ २६८।

५. दक्षिणेश्वर में गंगातट पर नौबतखाने के समीप महिलाओं के नहाने का घाट। पास में ही एक विशाल बकुल का वृक्ष होने से ऐसा नाम पड़ा। **६.** 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग १, पृष्ठ २७८। **७.** वैकुण्ठनाथ सान्याल कृत 'श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलामृत' (बँगला), प्र. सं., पृष्ठ ३३।

जब भैरवी बिना प्रश्न किये उसके साथ श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर चलने के लिए उठ खड़ी हुई ।[८]

भैरवी वर्तमान पूर्व बंगाल के जैसोर जिले के एक प्रतिष्ठित परिवार की ब्राह्मणी थीं। वे विष्णु की भक्त और एक पहुँची हुई साधिका थीं तथा तांत्रिक और वैष्णव साहित्य की परम विदुषी थीं। उनका नाम था योगेश्वरी ।[९] लगता है कि उनके पूर्वाश्रम के बारे में दक्षिणेश्वर में कोई नहीं जानता था, किसी को यह भी नहीं मालूम था कि उन्होंने कहाँ से इतनी विद्या अर्जित की और कहाँ पर एवं कब उन्होंने साधनाओं में इतनी उन्नति की ।[१०] भैरवी ने शायद ही कभी अपने बारे में कुछ कहा था।

श्रीरामकृष्ण को देखते ही भैरवी आनन्द और विस्मय से अधीर हो गयी; उनके नेत्र सजल हो उठे। उनकी इस विह्वलता के रहस्य का पता उनके शब्दों से लगता है। अपने भावों को संयमित करने में समर्थ होने के बाद वे कह उठीं, "बाबा, तुम यहाँ हो ! यह जानकर कि तुम गंगातट पर हो मैं तुम्हें ढूँढ़ रही थी, इतने दिनों बाद तुम्हारा पता लगा !" श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "माँ, तुम्हें मेरे बारे में कैसे पता चला?" भैरवी बोलीं, "मुझे तुम तीन व्यक्तियों से मिलना था, यह बात मुझे श्रीजगदम्बा की कृपा से पहले ही विदित हो गयी थी। दो[११] व्यक्तियों से पूर्व बंगाल में पहले ही भेंट हो गयी है, आज यहाँ पर तुमसे भी भेंट हो गयी।"

श्रीरामकृष्ण ने आगन्तुक का बहुत आदर के साथ स्वागत किया था। ऐसा सोचना गलत न होगा कि श्रीरामकृष्ण ने नीचे झुककर भैरवी को प्रणाम किया होगा, क्योंकि वे अपने स्वभाव से ही प्रत्येक नारी में साक्षात् जगदम्बा को देखते थे। स्पष्टत: भैरवी ने भी प्रथम दर्शन में ही श्रीरामकृष्ण के प्रति गहरा अनुराग अनुभव किया था।

भैरवी ने अपना संक्षिप्त परिचय दिया। उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य समझाया, जिसे वे बारीसाल के गिरिजा और चन्द्र को आवश्यक साधन सिखाकर कुछ अंश में पूरा कर चुकी थीं। और अब चूँकि श्रीरामकृष्ण मिल गये थे, इसलिए उनका वह उद्देश्य पूर्णरूपेण सम्पन्न हो जाएगा। यह स्पष्ट है कि भैरवी की दिव्य यौगिक दृष्टि ने उन्हें यह समझने में सहायता की होगी कि श्रीरामकृष्ण किस प्रकार के अद्वितीय आध्यात्मिक साधक थे ।[१२]

भैरवी ने आगे कहा कि उन्होंने पहले ही देख लिया था कि जब श्रीरामकृष्ण पुष्प चुन रहे थे, तो चलते समय उनका बायाँ पैर पहले पड़ रहा था, इससे उन्हें ऐसा लगा मानो श्रीमती राधिका ही वृन्दावन में सोने की टोकनी में पुष्प चुन रही हों ।[१३]

तब श्रीरामकृष्ण भैरवी के निकट बैठकर, बालक जिस प्रकार आनन्दित हो अपने मन की बातें जननी के समक्ष व्यक्त करता है, ठीक उसी प्रकार अपने अलौकिक दर्शन, ईश्वर-चर्चा के समय बाह्यज्ञान का लोप होना, गात्रदाह, नींद न आना, शारीरिक विकार आदि नित्यप्रति की बातों को बतलाते हुए उनसे बारम्बार यह पूछने लगे, "यह बताओ मुझे इस प्रकार क्यों होता रहता है? क्या मैं सचमुच पागल हो गया हूँ? जगदम्बा को हृदय से पुकारने के कारण क्या मुझे सचमुच ही कठिन रोग हो गया है?" भैरवी उनकी बातों को सुनती हुई कभी जननी की तरह उत्तेजित, कभी उल्लसित तथा कभी करुणार्द्र होकर उनको सान्त्वना देने के निमित्त बारम्बार कहने लगीं, "बाबा, कौन तुम्हें पागल कहता है? यह तुम्हारा पागलपन नहीं है, तुम्हारे भीतर महाभाव का उदय हुआ है, इसीलिए तुम्हारी ऐसी अवस्था हुई है। क्या इस अवस्था को किसी के लिए समझना सम्भव है? इसलिए लोग मनमानी बातें कहते रहते हैं। ऐसी अवस्था हुई थी एक तो श्रीमती राधिका की और दूसरे श्रीचैतन्य महाप्रभु की। यह बात भक्तिशास्त्र में विद्यमान है। मेरे पास वे सारी पोथियाँ हैं, उनमें से मैं तुम्हें दिखाऊँगी कि जिन लोगों ने ईश्वर को हृदय से पुकारा है, उन सभी की ऐसी अवस्था हुई है।" भैरवी ब्राह्मणी तथा अपने मामाजी को इस प्रकार घनिष्ठ आत्मीय की तरह वार्तालाप करते देख हृदय के विस्मय की सीमा न रही। वह अचरज से गड़ा रह गया, जब उसने सुना कि

८. रोमाँ रोलाँ के निम्नलिखित कथनों से यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकार की दैवयोग से सम्पन्न होनेवाली घटनाओं को हृदयंगम करने में आधुनिक संशयवादियों को कितनी कठिनाई होती है, "अलिफलैला में वर्णित किस्से के समान सहज सुन्दर रूप में वर्णित यह मिलन-कथा यूरोपीय पाठकों के मन में सन्देह पैदा करती है। मैक्समूलर के समान वे इस दन्तकथा में रामकृष्ण के मानसिक विकास का प्रतीक देखते हैं। किन्तु छह वर्ष के दीर्घकाल तक जो यह शिक्षिका रामकृष्ण के साथ रही, इस समय में उसके व्यक्तित्व में अनेक ऐसे व्यक्तिगत लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं (और जो कि सर्वदा उसके लिए गौरवसूचक नहीं हैं) जिससे कि इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि वह वास्तव में एक महिला थी, और स्त्री-सुलभ दुर्बलताएँ भी उसमें विद्यमान थीं।" (रोमाँ रोलाँ : 'रामकृष्ण परमहंस', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृ. सं., पृ. ६२)। **९.** राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) उनका सिर्फ 'बामनी' (ब्राह्मणी) कहकर उल्लेख करते थे। जीवनी-लेखों द्वारा कई बार 'भैरवी ब्राह्मणी' और कई बार सिर्फ 'ब्राह्मणी' शब्द के द्वारा उनका उल्लेख किया गया है। **१०.** 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', द्वितीय खण्ड, पृष्ठ २०५। **११.** उनका नाम था – 'चन्द्र' और 'गिरिजा'। दोनों ही बारीसाल जिले के थे, जो अब बाँग्लादेश में हैं। उन्होंने कुछ आध्यात्मिक साधनाएँ की थीं, परन्तु बाद में सिद्धियों के चक्कर में पड़ गये थे। वे लोग बाद में श्रीरामकृष्णदेव से मिले थे और इससे उन दोनों का काफी लाभ हुआ था।

१२. यह पैराग्राफ गुरुदास बर्मन लिखित 'श्रीश्रीरामकृष्ण-चरित' (बँगला), (पृ.२४) पर आधारित है। **१३.** वही, स्रोत – हृदयराम।

मामाजी को किसी प्रकार का स्नायु-विकार नहीं है, वरन् वह एक असाधारण आध्यात्मिक अवस्था है, जिसे 'महाभाव' कहते हैं और जिसमें उन्नीस शारीरिक लक्षण – जैसे आसुँओं का बहना, शरीर में कम्पन होना, रोमांच होना, पसीना आना, गात्रदाह आदि – दिखायी पड़ते हैं। इस प्रकार बड़े आनन्द[१४] में कुछ समय बीतने के बाद श्रीरामकृष्ण ने देखा कि बहुत विलम्ब हो गया है और दिन काफी चढ़ गया है। विदुषी भैरवी से यह सुनकर कि उनका जो कष्ट है वह आध्यात्मिक साधना की प्रगति का ही प्रतीक है, उनकी बहुत-सी चिन्ताओं का भार हलका हो गया।

श्रीरामकृष्ण ने भैरवी ब्राह्मणी को जलपान के लिए देवी का प्रसाद दिया। श्रीरामकृष्ण के प्रति दिव्य वात्सल्य की अनुभूति के कारण, उन्हें खिलाये बिना स्वयं खाना भैरवी को अच्छा न लगा, इसलिए श्रीरामकृष्ण ने उसमें से कुछ अंश पहले ग्रहण किया और तब भैरवी ब्राह्मणी ने विभिन्न मन्दिरों में देवदर्शन करने के उपरान्त स्वयं प्रसाद ग्रहण किया।

यह सच है कि अधिकतर आध्यात्मिक पुरुषों के जीवन में ऊपर से विशेष कुछ नहीं दिखायी देता, और श्रीरामकृष्ण-जैसे आध्यात्मिक विभूति के विषय में तो यह और भी अधिक सत्य है। अपनी आँखों के सम्मुख जो घट रहा था, उसे देखकर हृदयराम तो ठगा-सा खड़ा था और सोच रहा था कि ब्राह्मणी का दक्षिणेश्वर लाया जाना ईश्वर की अद्भुत लीला का ही अंग होना चाहिए। अपने मामा के आदेश पर उसने मन्दिर के भण्डार से भिक्षा-स्वरूप आटा, चावल आदि लाकर भैरवी ब्राह्मणी को दिया, ताकि वे रसोई बनाकर अपने गले में लटकी हुई श्रीरघुवीर शिला को भोग लगा सकें।

ब्राह्मणी ने पंचवटी में रसोई बनायी और श्रीरघुवीर को भोग लगाया। अनुष्ठान के अंग के रूप में वे अपने इष्टदेव का चिन्तन करने लगी और शीघ्र गहरे ध्यान में निमग्न हो गयीं। ध्यान की गहराई में उन्हें एक अभूतपूर्व दर्शन प्राप्त हुआ, उनके दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रुधारा बहने लगी और बाह्य ज्ञान पूरी तौर से लुप्त हो गया। उसी समय श्रीरामकृष्ण पंचवटी की ओर से एक अदम्य खिंचाव का अनुभव करने लगे। वे अर्धबाह्य अवस्था में आविष्ट के समान वहाँ उपस्थित हुए और श्रीरघुवीर के समक्ष निवेदित नैवेद्य को खाने लगे। जब श्रीरामकृष्ण नैवेद्य का अधिकांश भाग ग्रहण कर चुके, तो ब्राह्मणी की चेतना लौटी। उन्होंने जब आँखें खोलीं, तो यह देखकर उनके आनन्द का ठिकाना न रहा कि जो दर्शन उन्होंने अपने ध्यान की गहराई में किया था, उसका सामने के दृश्य के साथ अद्भुत सादृश्य है। अपने दर्शन की सत्यता को तत्काल प्रमाणित होते देखकर दिव्य आनन्द से उनका रोम-रोम पुलक उठा। शीघ्र ही श्रीरामकृष्ण की भी बाह्य चेतना लौटी और जब उन्होंने अनुभव किया कि भावोन्माद में उन्होंने कुछ अनुचित कर डाला है, तो उन्हें ग्लानि हुई और अपने आचरण के लिए क्षुब्ध होकर वे ब्राह्मणी से कहने लगे, "मैं आत्मविह्वल होकर, पता नहीं क्यों इस प्रकार के आचरण कर बैठता हूँ?" तब ब्राह्मणी माता की तरह उन्हें धीरज देती हुई बोली, "बाबा, कोई बात नहीं है; यह कार्य तुमने नहीं किया है, तुम्हारे अन्दर जो विराजमान हैं, उन्होंने ही किया है; ध्यान में निमग्न होकर जो मैंने देखा है, उससे मुझे निश्चय हुआ है कि किसने ऐसा किया है और इसका कारण क्या है; मैं यह भी जान गयी हूँ कि अब मेरे लिए पहले की तरह बाह्यपूजा की आवश्यकता नहीं है। इतने दिनों के बाद मेरा पूजन सार्थक हुआ है।"

यह कहकर किसी प्रकार का संशय किये बिना ब्राह्मणी ने अवशिष्ट खाद्य-सामग्री को देवता का प्रसाद समझकर ग्रहण किया। तदनन्तर प्रेमाश्रु बहाती हुई वे जिस रघुवीर-शिला का दीर्घकाल से भक्तिभावपूर्वक पूजन करती आ रही थीं, उसे गंगा के पावन जल में विसर्जित कर दिया। उन्हें लगा कि अब शिला के पूजन की आवश्यकता नहीं रह गयी, क्योंकि श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व में वे जीवन्त रघुवीर के दर्शन कर धन्यता का अनुभव कर रही थीं। इन अलौकिक क्रिया-कलापों का एकमात्र प्रत्यक्षदर्शी शायद हृदयराम ही था, जो भौचक्का होकर सब देख रहा था और कुछ समझ नहीं पा रहा था कि यह सब क्या घट रहा है।

इस प्रकार भैरवी ब्राह्मणी और श्रीरामकृष्ण में माता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित हो गया। भैरवी को ऐसा लगता कि श्रीरामकृष्ण नन्दलाला हैं और वे स्वयं मानो माता यशोदा हैं। श्रीरामकृष्ण भी उन्हें अपनी माता और गुरु समझते थे। इस प्रकार वे एक साथ उनकी भक्त और विश्वसनीय सलाहकार बन गयीं।

अपने हृदय की अन्तर्प्रेरणा से चालित हो श्रीरामकृष्ण ने पहले ही आध्यात्मिक अनुभूति की ऊँची अवस्था प्राप्त कर ली थी, परन्तु उन्हें सन्तोष न था, क्योंकि अभी भी सही अर्थ में उन्हें उस अवस्था पर अधिकार नहीं प्राप्त हुआ था। अब उन्हें इन विदुषी महिला के माध्यम से सहायता प्राप्त हो गयी, जिन्हें उन्होंने अपना गुरु मान लिया। तांत्रिक और वैष्णव साधनाओं में निष्णात भैरवी अपने इस अपूर्व शिष्य को परम्परागत आध्यात्मिक साधन-पथ पर तीन वर्ष तक व्यवस्थित ढंग से परिचालित करती रहीं और उनकी सहायता से श्रीरामकृष्ण के समक्ष आध्यात्मिक जीवन के नये नये रहस्य उद्घाटित होते गये।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

१४. गुरुदास बर्मन के अनुसार (वही, पृष्ठ ५५) भैरवी ब्राह्मणी ने इस अवसर पर 'श्रीचैतन्य-चरितामृत' से उद्धरण देते हुए अपने कथन की पुष्टि की थी कि श्रीचैतन्य महाप्रभु के ही समान श्रीरामकृष्ण भी ईश्वर के अवतार हैं।

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (३)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

''ठाकुर हमें चैतन्य-चरितामृत, चैतन्य-चन्द्रोदय आदि भक्तिग्रन्थ पढ़ने को उत्साहित किया करते थे, परन्तु बीच बीच में वे कहते कि वह सब एकांगी है। ठाकुर को यदि हम नहीं देखते, तो क्या श्रीकृष्ण की रासलीला समझ पाते? उन लीलाओं को अनैतिक समझकर हम सोचते – **तेजीयसां न दोषाय**। परन्तु भाग्य से उनकी कृपा मिली, तभी तो हम वह सब ठीक-ठीक समझ सके। अपवित्र गृहस्थगण भला रासलीला क्या समझेंगे? उनके समक्ष इन विषयों पर व्याख्यान नहीं देना चाहिए। पूर्ण रूप से पवित्र लोग ही यह सब सुनने के अधिकारी हैं। अपवित्र लोगों का यह सुनकर अमंगल होता है। तुम्हारे श्रीकृष्ण हाथ में बाँसुरी लेकर जीवन भर क्या केवल 'ता धिन ता धिन' करते हुए नाचते ही रहे? भक्त होने का मतलब क्या सिर्फ वंशीधारी कृष्ण का ही चिन्तन करते हुए उनका नृत्य ही देखना होगा? ओह! ठाकुर वह सब एकांगी भाव पसन्द नहीं करते थे। वे डकैती-जैसी भक्ति का दृष्टान्त दिया करते थे।

''ठाकुर की पवित्रता की बात जानते हो न? उनके बिस्तर के नीचे रुपया छिपाकर रख देने पर देखा है कि वे पास जाकर भी बिस्तर पर बैठ नहीं पाते थे। और वह अफीम के कारण रास्ता भूल जाना! इन सबकी साधारण मनुष्य क्या धारणा कर सकता है? हम लोगों ने उनका आदर्श जीवन देखा है, इसीलिए तो तुमसे दृढ़तापूर्वक कह पा रहे हैं।''

घटना इस प्रकार है – दक्षिणेश्वर में ही रानी रासमणि के कालीबाड़ी के निकट शम्भु चन्द्र मल्लिक का एक उद्यान था। उसमें वे ठाकुर के साथ भगवच्चर्चा करते हुए काफी समय बिताया करते थे। उसी उद्यान में उनके द्वारा स्थापित एक धर्मार्थ चिकित्सालय भी था। श्रीरामकृष्ण को पेट की बीमारी प्रायः लगी ही रहती थी। इसी तरह एक दिन शम्भुबाबू ने उनके पेट की बीमारी की बात जानने के बाद रासमणि के उद्यान में लौटते समय उनसे थोड़ा-सा अफीम ले जाकर सेवन करने को कहा। ठाकुर ने भी उनकी बात पर हामी भरी। उसके बाद बातचीत में दोनों ही उस बात को भूल गये।

शम्भुबाबू से विदा लेकर लौटते समय रास्ते में ठाकुर को उस बात का स्मरण हुआ और अफीम लेने के लिए लौटकर उन्होंने देखा कि शम्भु बाबू अन्दर जा चुके हैं। ठाकुर ने इस विषय में उन्हें फिर से न बुलवाकर उनके कर्मचारी से ही थोड़ा-सा अफीम माँग लिया और रासमणि के उद्यान की ओर लौटने लगे। परन्तु रास्ते में आते ही उन्हें न जाने क्या हो गया कि रास्ता दिखना ही बन्द हो गया। रास्ते के बगल में नाली की ओर ही मानो कोई बलपूर्वक उनके पैरों को खींचने लगा! उन्होंने सोचा, यह क्या हो रहा है? इधर तो रास्ता नहीं है। किन्तु ढूँढ़ने पर भी उन्हें मार्ग का पता न चला। यह सोचकर कि अवश्य ही किसी प्रकार दिग्भ्रम हो गया है, जब वे पुनः शम्भुबाबू के बगीचे की ओर देखने लगे तब उन्हें उधर का मार्ग स्पष्ट दिखायी दिया। कुछ देर तक विचार-विमर्श करने के बाद पुनः वे शम्भुबाबू के बगीचे के फाटक पर वापस आये तथा वहाँ से अच्छी तरह देखभाल कर अत्यन्त सावधानी के साथ रासमणि के बगीचे की ओर पुनः अग्रसर होने लगे। किन्तु दो-चार कदम आगे बढ़ते ही फिर पहले जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी – उन्हें मार्ग पुनः नहीं दिखायी दिया! उनके पैर विपरीत

पिछले पृष्ठ का शेषांश

साथ ही भैरवी ब्राह्मणी ने शास्त्रों में अपनी गहरी पैठ के बल पर, श्रीरामकृष्ण के चरित्र का अत्यन्त सूक्ष्मता से अध्ययन किया और उसकी तुलना शास्त्रों में दी हुई अवस्थाओं से किया। इस ज्ञान के बल पर, जो कि उनके स्वयं के दर्शनों से भी पुष्ट हुआ था, वे यह घोषित करने के लिए प्रेरित हुई कि एकमात्र ईश्वर के अवतार में ही इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियों का अभिव्यक्त होना सम्भव है। वास्तव में, वे ही प्रथम व्यक्ति थीं, जिन्होंने शास्त्रों के आधार पर यह प्रमाणित किया था कि श्रीचैतन्य महाप्रभु के समान ही श्रीरामकृष्णदेव भी ईश्वर के अवतार हैं।

श्रीरामकृष्ण के साथ अपने लम्बे बारह वर्ष के सान्निध्य में उन्हें अपनी कमजोरियों का भी पता चला। अपने आध्यात्मिक तनय श्रीरामकृष्ण के स्नेहपूर्ण तथा अप्रतिम मार्गदर्शन में वे अपनी कमियों को दूर करने में समर्थ हुईं। श्रीरामकृष्ण और भैरवी ब्राह्मणी की यह मुलाकात न केवल उन दोनों की आध्यात्मिक यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण घटना है, वरन् वह हमें एक ऐसे आध्यात्मिक जीवन का भी दर्शन कराती है, जिसमें सब कुछ पूर्णता की ओर ले जाता है। ❑❑❑

दिशा में आकृष्ट होने लगे ! इस प्रकार दो-चार बार होने के पश्चात् उनके मन में सहसा यह विचार उत्पन्न हुआ, "ओह, शम्भु ने कहा था कि 'मुझसे अफीम माँग ले जाना'; ऐसा न कर मैं उससे कहे बिना ही उसके कर्मचारी से अफीम माँगकर ले जा रहा हूँ, इसीलिए माँ मुझे जाने नहीं दे रही हैं। शम्भु की आज्ञा लिये बिना मुझे कुछ देना कर्मचारी के लिए भी उचित नहीं है और शम्भु के कथनानुसार मुझे भी उससे ही लेना चाहिए। अत: मैं जो यह अफीम लिये जा रहा हूँ, इसमें असत्य भाषण तथा चोरी – दोनों दोष विद्यमान हैं; इसीलिए माँ मुझे इस प्रकार घुमा-फिरा रही हैं, वापस नहीं जाने दे रही हैं !" यह सोचकर श्रीरामकृष्ण शम्भुबाबू के औषधालय में पुन: पहुँचे। उन्होंने देखा कि वह कर्मचारी भी वहाँ पर उपस्थित नहीं है – भोजनादि करने के लिए कहीं चला गया है। इसलिए खिड़की के अन्दर से ही उस अफीम की पुड़िया को औषधालय में फेंककर जोर से चिल्लाते हुए उन्होंने कहा, "लो भाई, यह रही तुम्हारी अफीम।" यह कहकर वे रासमणि के बगीचे की ओर चल दिये। इस बार जाते समय उन्हें पहले जैसी विह्वलता नहीं हुई; रास्ता भी स्पष्ट दिखायी देने लगा और वे अच्छी तरह से यथास्थान पहुँच गये। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "मैं अपना सारा भार माँ पर सौंप चुका हूँ न? इसीलिए माँ मेरी हाथ पकड़े हुई हैं। पाँव को थोड़ा भी बेताल नहीं होने देती, इधर-उधर पड़ने नहीं देतीं।" (श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग)

बाबूराम महाराज – "अब तक जितने भी अवतार आये हैं, मुझे तो लगता है कि उनमें ठाकुर ही श्रेष्ठ हैं – इसके लिये चाहे मुझे कट्टर या चाहे जो कह लो। उन लोगों को तो अपनी आँखों से देखा नहीं, केवल पुस्तकों में उनके विषय में पढ़ा है; और जिन्हें अपने नेत्रों से देखा है, जिनके साथ एक साथ निवास किया है, उनका भाव हृदय को जैसा आकृष्ट करता है, पुस्तकें पढ़ने से क्या वैसा होता है ! मैं किसी की निन्दा नहीं करता। वे सभी मेरे सिर की मणि हैं।

"महाप्रभु गौरांग की वह एकांगी भक्ति, आचार्य शंकर का ज्ञान और बुद्ध का हृदय। परन्तु इस बार तो ठाकुर वैसे नहीं थे, भाई ! एक ही आधार में ज्ञान, भक्ति, प्रेम – सब कुछ था – 'जितने मत उतने पथ।' तथापि ज्ञान के वास्तविक अधिकारी अत्यन्त विरल हैं, अत: 'वचनामृत' में भक्ति की बातें ही अधिक हैं।

"सभी धर्म तथा सम्प्रदाय के लोगों से वे कहा करते थे – बढ़े जाओ, बढ़े जाओ, चन्दन-वन के बाद ताँबे की खान है, उसके बाद चाँदी की खान और तत्पश्चात् सोने तथा हीरे की" आदि आदि। एक लकड़हारा जंगल से लकड़ी लाकर बड़े कष्टपूर्वक किसी प्रकार जीवन-यापन करता था। एक दिन वह वन से पतल-पतली लकड़ियाँ काटकर सिर पर ढोते हुए ला रहा था। सहसा उसी मार्ग से जाते हुए एक व्यक्ति ने उसे बुलाकर कहा – भाई, आगे बढ़ जाओ। उसकी बात मानकर अगले दिन लकड़हारा थोड़ी दूर आगे गया और उसे मोटी-मोटी लकड़ियों का जंगल मिला। उस दिन उससे जितना भी हो सका, काटा और बाजार में ले जाकर बेचने पर उसे अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक पैसे मिले। अगले दिन वह फिर मन-ही-मन सोचने लगा – उन्होंने तो मुझे आगे बढ़ने को कहा था, अच्छा, क्यों न थोड़ा और भी आगे जाकर देखूँ। आगे बढ़ने पर उसे चन्दन काठ का वन मिला। वह उस चन्दन काठ को ही सिर पर उठाकर ले गया और बाजार में बेचकर उसे काफी रुपये मिले। अगले दिन उसने फिर सोचा कि उन्होंने मुझे आगे बढ़ने के लिए कहा था। उस दिन और भी थोड़ी दूर जाने पर उसे ताँबे की खान मिली। वह उसमें भी न भूलकर दिन-पर-दिन और भी अग्रसर होने लगा और क्रमश: वह चाँदी, सोने तथा हीरे की खानों को पाकर अत्यन्त धनी हो गया। धर्म के मार्ग में भी ऐसा ही है। आगे-ही-आगे बढ़ते जाओ। एक-आध रूप या ज्योति देखकर अथवा कोई सिद्धाई पाकर ही आह्लादित होकर यह मत सोचो कि मेरा सब हो गया।

"आगे-ही-आगे बढ़ते जाओ – धर्मराज्य का कोई अन्त नहीं है। साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण – जिसका जो पथ हो, जैसी रुचि हो; निष्ठापूर्वक उसी को पकड़कर बढ़ते जाओ – केवल बढ़ते जाओ। पथ को लेकर झगड़ा मत करो – लक्ष्य की ओर आगे बढ़ो; किसी भी तरह वहाँ पहुँच जाने पर फिर कोई झगड़ा-झंझट नहीं रह जायेगा।

"ठाकुर के सारे भाव नहीं ले सके, इसीलिए (अमुक) ... दल बना गये हैं। ठाकुर कहा करते थे – ठहरे हुए तालाब में ही (दल) काई जमती है। सावधान ! कहीं तुम लोग भी दल न बाँध बैठना ! नहीं तो ठाकुर का भाव नहीं रह जायेगा, अत: सावधान ! दल क्या है समझे? जैसे कि एक दल कहता है, 'मूर्तिपूजा मत करो, गंगाजल के प्रति इतनी भक्ति दिखाने की क्या जरूरत ! वह तो हाइड्रोजन तथा आक्सीजन मात्र है। सारे अन्धविश्वासों का त्याग कर दो।' फिर दूसरा दल कहता है, 'निराकार सगुण ब्रह्म की उपासना करना ही ठीक है, निर्गुण ब्रह्म जैसा कुछ भी नहीं है।' कोई अन्य कहता है, 'ईसा मसीह की उपासना को छोड़ दूसरा कोई उपाय नहीं।' आदि, आदि। इसी को 'दलबन्दी' कहते हैं। तथापि जो जैसा आधार लेकर आया है, उसे महासागर के समान ठाकुर से उतना ही मिलेगा। छोटा आधार लेकर आने से सभी पथों से होकर जाने पर भाव नष्ट हो सकता है। कोई एक मत अपना कर, मन-मुख को एक रखते हुए, दृढ़ निष्ठा के साथ उसी में अग्रसर होते जाओ और दूसरे मतों के प्रति कटाक्ष मत करो।

(**शेष अगले पृष्ठ पर**)

नेतृत्व का गुण

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

आज मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों में जैसी गिरावट आयी है, वैसी ही उसके उस पक्ष में भी, जिसमें से नेतृत्व का गुण प्रकट होता है। 'नेतृत्व' का अर्थ होता है – 'ले जाने का भाव' अर्थात् जो दूसरों को आगे ले जा सकता है, उसमें नेतृत्व के गुण हैं, ऐसा कहा जा सकता है। इसी को सामान्य बोलचाल की भाषा में 'नेता' कहा जाता है।

आज से कुछ समय पहले तक, या यों कह लीजिए जब तक हमारे देश को आजादी नहीं मिली थी तब तक, 'नेता' शब्द अत्यन्त सम्मान का द्योतक था। सुभाषचन्द्र बोस जैसे शूर-वीर और आत्म-त्यागियों से 'नेता' शब्द सम्मानित हुआ था और आज भी हम उन्हें 'नेताजी' सम्बोधित करते हैं। पर आजादी के बाद से नेता शब्द क्रमशः मखौल और व्यंग्य का पर्याय बनता जा रहा है। इसका कारण साफ है। नेतृत्व के वे गुण जब व्यक्ति में नहीं रह जाते, जिनके बल पर वह दूसरों की श्रद्धा खींचता है, तब डण्डे या पैसे के जोर पर ही वह दूसरों को अपने स्वार्थ के लिए बटोरने की चेष्टा करता है और 'नेता' कहलाता है।

आज अन्य सभी वस्तुओं की भाँति 'नेता' शब्द का भी अवमूल्यन हुआ है। पहले नेता कहने से एक ऐसे व्यक्ति का चित्र आँखों के सामने उभरता था, जो आत्मत्यागी हो, नि:स्वार्थी हो, जो समाज या देश के कल्याण के लिए अपना सब कुछ खोने के लिए प्रस्तुत हो, जो अपने साथियों का दु:ख-दर्द मिटाने के लिए स्वयं को मिटा देने के लिए तैयार हो। ऐसा व्यक्ति आत्म-विज्ञापन नहीं करता था कि मैं नेता हूँ, उसके गुणों का कीर्ति-सौरभ बिना घोषणा के चारों बिखर जाता था, जैसे फूल के खिलने पर उसकी सुगन्ध वायुमण्डल में छा जाती है। और तब लोगों को हाँककर लाने की जरूरत नहीं पड़ती थी, वे तो पराग-लोभी मधुकरों की भाँति स्वयं ही खिंचकर उसके पास चले आते थे और उसके जीवन में जलती हुई बलिदान की आग को देख त्याग और देशभक्ति की प्रेरणा पाते थे। पर आज वह माहौल नहीं रहा। पहले 'नेता' पदवी प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अनुशासन के तप में अपने को तपाता था, पर आज सत्ता पाने की अन्धी दौड़ में भाग लेने हेतु खड़ा हो जाने को ही नेता मान लिया जाता है। जो येन-केन-प्रकारेण कोई काम करवा सके, वह नेता है। जो धन से किसी को खरीद सके, वह नेता है। जो अखबारों में अपने बयान छपवा सके, वह नेता है। जो डण्डे के बल पर दूसरों पर धौंस जमाता रहे, वह नेता है। जो दूसरों की टाँग पकड़कर खींचकर गिरा दे सके, वह नेता है। जो भाषणों में अच्छी खासी गप्प हाँक सके और झूठे आश्वासनों के द्वारा जनता को प्रलोभित कर उनका वोट खींच सके, वह नेता है। जो स्वयं पैसे डकारकर एक निरपराधी को जेल भिजवा सके, वह नेता है। झूठ बोलता हुआ भी सत्य की दुहाई देता रहे, वह नेता है।

ऐसी परिस्थितियों में नेतृत्व के गुण भला कहाँ से प्रकट हो पाएँगे? जो सचमुच का त्यागी है और अपने साथियों का कल्याण चाहता है, उसके पास वाग्जाल नहीं होता, चाटुकारिता नहीं होती, वह झूठे आश्वासन देना पसन्द नहीं करता। उसकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं होता। उसके पीछे आज के युग में भले ही भीड़ नहीं दिखायी देती, पर आज भी वह अपने नेतृत्व के गुणों से दूसरों में चिनगारी पैदा कर दे सकता है। आवश्यकता है मानवीय गुणों में मूलभूत आस्था की।

अंगरेजी में कहा गया है, "Some are born great, some achieve greatness, and on some greatness is thrushed." – अर्थात् कुछ लोग महान् पैदा होते हैं, कुछ लोग महानता प्राप्त करते हैं और कुछ पर महानता थोपी जाती है। तो, यही बात नेतृत्व के लिए भी कही जा सकती है - कोई नेता ही पैदा होता है, कोई नेतापन अर्जित करता है और किसी पर नेतापन थोपा जाता है। आजकल इस तृतीय श्रेणी की भरमार है, जहाँ थोपे हुए नेतापन का मुखौटा लगाकर आचारहीन और भ्रष्ट लोग समाज में नेता का सम्मान पा रहे हैं। इसीलिए अच्छी-अच्छी योजनाओं के बावजूद देश उठ नहीं पा रहा है। देश का उत्थान नेतृत्व के सच्चे गुणों की अभिव्यक्ति से ही हो सकता है, नारों के शोरो-शराबे से नहीं। ❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

"ठाकुर मच्छरदानी खोसना या कुरते के बटन लगाना नहीं कर पाते थे। दरवाजे में किल्ली भी नहीं लगाते थे। एक बार उनके सामने एक नया कपड़ा फाड़े जाने पर वे चिल्ला उठे थे, मानो उन्हें पीड़ा का बोध हो रहा हो।"

❖ (क्रमशः) ❖

माँ को जैसा देखा है

स्वामी गौरीश्वरानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक से आगे)

ठाकुर के समान ही माँ कभी-कभी कहतीं, "कोई-कोई बच्चे-बच्चियाँ आते हैं, तो उनके प्रणाम करने पर शरीर शीतल हो जाता है। और कोई-कोई ऐसे भी होते हैं, जिनके प्रणाम करने पर पाँवों में जलन होने लगती है। दो-तीन बार पाँव धोने पर ही जलन मिटती है।" इस पर हम लोग कहते, "तो फिर किसी को भी आपको स्पर्श करके प्रणाम नहीं करने देंगे।" इस पर वे हँसते-हुए कहतीं, "इसी के लिए तो हम लोगों का आना हुआ है।" अर्थात् इन पापी-तापियों का पाप ग्रहण करने के लिये, उनका उद्धार करने के लिये ही वे लोग आये हैं। कहतीं, "ठाकुर क्या केवल रसगुल्ले खाने आये थे? इनका उद्धार करने के लिए वे आये थे। नहीं तो फिर वे आते ही क्यों? अपने नित्यधाम में आनन्द से रहते। इसी के लिए आये हैं।" यही उनकी करुणा है।

एक अन्य घटना मेरी देखी हुई है। यह भी हमारे मास्टर महाशय की सेवा से जुड़ी है। बहुत-से साधु लोग उनके घर जाया करते थे और वे उन लोगों की सेवा करते। महापुरुष महाराज उस समय बेलूड़ मठ के मैनेजर थे। वे बड़े कड़क स्वभाव के थे। पान से चूना गिर जाने पर भी नाराज हो जाते। एक दिन एक ब्रह्मचारी के किसी कार्य में त्रुटि हुई। उन दिनों हम लोग गंगाजी में ही स्नान करते और गंगाजल ही पीते। तब तक बेलूड़ मठ में नल का पानी नहीं आया था। दशमी के दिन गंगा का पानी स्वच्छ रहता। उसी दिन बड़े-बड़े घड़ों में पानी भरकर रख लिया जाता। उन घड़ों के मुँह में एक कपड़ा बाँधकर उसके ऊपर एक फिटकरी का टुकड़ा रख दिया जाता। फिटकरी पानी में घुल जाता और कीचड़-मिट्टी सब घड़े के तल में एकत्र हो जाता। ये ब्रह्मचारी गंगा-स्नान करने गये थे। चूँकि गंगाजल खूब मटमैला रहता था, अत: कई लोग केवल गमछा पहनकर स्नान कर आते। वे लोग कमरे में आकर कपड़े पहन लेते और कुएँ के पानी से गमछा धो लेते, जिसका पानी पीया नहीं जाता था। एक व्यक्ति ने उन ब्रह्मचारी से कहा, "मैनेजर महाराज के पास जाओ। आज तुम्हारे भाग्य में दो पैसे हैं।" उन दिनों गंगा पार जाने के लिए दो पैसे लगते थे। महापुरुष महाराज किसी के ऊपर नाराज होने पर यही दण्ड देते, "इसे दो पैसे दे दो, गंगा-पार चला जाय।" अर्थात् घर लौट जाये। क्योंकि वह यहाँ रहने के योग्य नहीं। यदि मैगनेलिया ग्रैंडीफ्लोरा का फूल कैंची से काटते समय जरा-सा डाल भी कट जाता या जरा-सी छाल भी उघड़ जाती, तो महापुरुष महाराज कहते, "तू यहाँ रहने के योग्य नहीं है। तुझे यह बोध नहीं हुआ है कि ये सब ठाकुर की चीजें हैं!" और कहते, "इसे दो पैसे दे दो, गंगा-पार चला जाय।" फिर धीरे से कहते, "चार पैसे देना। बेटा यदि लौटना चाहे, तो दो पैसे कहाँ पायेगा?" अस्तु।

"आज तुम्हारे भाग्य में दो पैसे हैं" – यह सुनकर वह ब्रह्मचारी भय से गमछा पहने ही चला गया। बेलूड़ मठ लौटा ही नहीं। कहाँ जाये? निश्चय किया कि माँ के पास जायेगा। तब वे जयरामबाटी में थीं। उसके हाथ में एक भी पैसा नहीं था और रास्ता भी अज्ञात था। अस्तु। वह दो दिन बिना खाये-पीये रास्ता पूछ-पूछकर पैदल चलते हुए, बहुत भटकने के बाद संध्या के समय आरामबाग पहुँचा। वहाँ के श्मशान में एक साधु रहते थे। वे रामकृष्ण मिशन के नहीं थे। उन्होंने ब्रह्मचारी से कहा, "भाई, जयरामबाटी तो यहाँ से १३ मील दूर है। शाम हो चुकी है, अब रात होने वाली है। रात में तुम यहीं रहो। मैं भिक्षा करके थोड़ा-सा आटा लाया हूँ। रोटियाँ बनाऊँगा, खाना। लगता है तुम बहुत भूखे हो। खाकर यहाँ थोड़ा विश्राम करो, कल सुबह उठकर चले जाना।" वे साधु माँ का दर्शन कर चुके थे। बोले – "माई के पास गमछा पहनकर जाओगे!" उन्होंने उन्हें एक गेरुआ कपड़ा दिया। निश्चय ही वह कपड़ा फटा और मैला था। साधु के पास वही था। उधर मैं और हेड-मास्टर महाशय माँ के पास गये थे। मास्टर महाशय तम्बाकू पीते थे। उनके लिए तम्बाकू सजाकर लाना होता, तो कहते, "आग माँ के चूल्हे से मत लाना, नहीं तो पूछेंगी कि तम्बाकू कौन पीयेगा।" वे छिपाकर पीते; कहते, "आग मामियों के चूल्हे से लाना।" मैं आग लाने जा रहा था।

देखा कि ब्रह्मचारी माँ के द्वार के सामने खड़े हैं। हुक्का नीचे रखने के बाद उन्हें प्रणाम करके मैंने पूछा, "आप कहाँ से आये हैं? उत्तर मिला, 'बेलूड़ मठ से।" मैंने कहा, "अरे, बेलूड़ मठ से आये हैं, तो यहाँ क्यों खड़े हैं? जाइये भीतर जाइये, माँ हैं, जाकर बातें कीजिए।" वे बोले, "नहीं, तुम माँ से अनुमति ले आओ।" मैंने कहा, "मैं जानता हूँ, बेलूड़ मठ के साधुओं के लिए किसी अनुमति की जरूरत नहीं। चलिए ले चलता हूँ।" मानो मैं वहाँ का पण्डा होऊँ – सभी को माँ के पास ले जाता। उन्होंने कहा, "मैं नहीं जाऊँगा। पहले माँ से अनुमति ले आओ।" जाकर माँ से बोला, "माँ, बेलूड़ से एक संन्यासी आये हैं। आपके दर्शन की अनुमति चाहते हैं।" माँ ने हँसते हुए कहा, "बेलूड़ से लड़का आया है, तो फिर अनुमति की क्या जरूरत है?" फिर बोलीं, "जाओ बेटा, ले आओ।" लौटकर बोला, "माँ ने अनुमति दी है।" मैंने सोचा – बेलूड़ मठ के साधु लोगों में से कोई पूछता नहीं, सीधे माँ के पास चले जाते हैं, इससे माँ भी बड़ी खुश होती हैं। परन्तु इन्होंने ऐसा क्यों किया? जाकर देखा – वे माँ के सामने पूरा दण्डवत् प्रणाम करके जोर-जोर से रोते हुए बता रहे हैं कि महापुरुष महाराज के काम में कुछ त्रुटि हुई थी, अतः महापुरुषजी उन्हें मठ से भगा देंगे, इसी भय से वे माँ के पास चले आये हैं। माँ ने उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए कहा, "बेटा, तुम्हें कोई भय नहीं। मैं तारक को चिट्ठी लिख देती हूँ। तुम्हें कोई चिन्ता नहीं।" फिर वे हम लोगों से बोलीं, "अहा, बच्चा कितना कष्ट करके पैदल चलकर आया है !" माँ ने एक बात और कही थी, "काशी-वृन्दावन जाना सहज है। मेरे पास आना कठिन है।" तब समझा था – यह पथ कठिन है; परन्तु अब समझा हूँ, "मेरे पास आने" का अर्थ वह नहीं है, बल्कि यह है कि जिसके भाग्य में है, उसका हो जायेगा। अस्तु।

वे बोलीं, "तुम्हारा कपड़ा मैला और फटा है।" रामकृष्ण मिशन के साधु लोग खूब साफ-सुथरे रहते हैं। उनके मैले वस्त्र देखकर मुझे भी पहले सन्देह हुआ था कि ये रामकृष्ण मिशन के साधु नहीं हैं। उन्होंने बताया – आरामबाग के साधु ने जो कपड़े दिये, वे ही पहने हैं। भय के कारण वे स्नान का गमछा पहने हुए ही मठ से निकल आये थे। माँ ने पूछा, "तुम संन्यासी हो या ब्रह्मचारी?" वे बोले, "मैं ब्रह्मचारी हूँ। मेरा नाम अक्षर-चैतन्य* है।" माँ ने कहा, "बेटा, तुम्हें कोई भय नहीं। मैं तारक (स्वामी शिवानन्द) को पत्र लिख देती हूँ। अहा ! बेटा, तुम यहाँ कितना कष्ट करके पैदल चलकर आये हो – अब कुछ दिन यहीं रहो।"

मास्टर महाशय बोले, "राममय यहीं रहे। ये जब लौटेंगे, तो उन्हें पैदल नहीं जाना पड़ेगा। राममय इन्हें मेरे घर ले आयेगा। मैं रुपये दे दूँगा और राममय इन्हें ट्रेन में चढ़ा देगा। इन्हें अब पैदल नहीं लौटना पड़ेगा।"

माँ ने मुझसे कहा कि मैं उनका बक्स खोलकर पतली लाल किनारी की दो धोतियाँ और एक चादर ब्रह्मचारी को दे दूँ। उन्होंने उन्हीं वस्त्रों को धारण कर लिया।

मैं माँ के लिये गणेश का काम करता – बहुत-से पत्र लिखता। मेरे हाथ की लिखावट खूब सुन्दर थी। आजकल बेलूड़ मठ में जिस पोथी को सामने रखकर दुर्गापूजा होती है, वह मेरे ही हाथ का लिखा हुआ है। पैंतालिस दिन परिश्रम करके मैंने इस पोथी का प्रत्येक अक्षर लिखा था। जिस दिन समाप्त हुआ, उसी दिन मैंने उसे महापुरुष महाराज के हाथ में दिया था। उस समय वे मठ के अध्यक्ष थे। उन्होंने उसे खोलकर देखा और बोले, "अरे ! हाथ से लिखा है – यह तो बिल्कुल छपा हुआ लगता है।" उन्होंने तत्काल अपने सेवक से कहा, "राममय को हथेली भरकर मिठाई-प्रसाद दे दे।" महाराज के सेवक शंकर महाराज (स्वामी अपूर्वानन्द) ने कहा, "महाशय, हथेलियाँ जोड़िये, महाराज का आदेश है – आपको हाथ भरकर मिठाइयाँ देनी होगी।"

मैं माँ की चिट्ठियाँ लिखा करता। माँ ने मुझसे कहा, 'बेटा, तारक को एक पत्र लिख दे तो !" वे बोलती गयीं और मैं लिखता गया –

कल्याणवरेषु बेटा तारक,

छोटे नगेन ने तुम्हारे प्रति क्या अपराध किया है, जो तुम उसे मठ से भगा दोगे ! इसी भय से मेरा लड़का इतना कष्ट करके पैदल ही मेरे पास आया है। पर बेटा, क्या माँ की दृष्टि में भी पुत्र का कोई अपराध होता है? मैं उसे वापस भेज रही हूँ। बेटा, तुम उसे कुछ कहना मत। मेरा आशीर्वाद लेना।

इति, माँ

पत्र चला गया। तब एक दिन में ही पत्र चला जाता था। पत्र का उत्तर भी आ गया। उन्होंने लिखा था –

श्रीचरण कमलेषु माँ,

हम लोग खोज रहे थे कि लड़का कहाँ चला गया। आपके पास है – जानकर हम लोग खूब आश्वस्त हुए। आप दया करके उसे भेज दीजिए। मैं उसे कुछ नहीं कहूँगा। आपके श्रीचरणों में मेरा तथा मठ के सभी लोगों को साष्टांग प्रणाम निवेदित करता हूँ।

इति, सेवकाधम तारक

पत्र का उत्तर आने के बाद मैं उन्हें मास्टर महाशय के पास ले गया। मास्टर महाशय ने उन्हें देखा था, उनके लिए दो कुर्ते

(शेष अगले पृष्ठ पर)

* स्वामी गम्भीरानन्द जी की पुस्तक में भूल से 'अक्षय-चैतन्य' छपा है। मैंने ही एक अन्य घटना के साथ इसे भी लिखकर उन्हें दी थी, परन्तु छपाई में अक्षर-चैतन्य की जगह अक्षय-चैतन्य हो गया है।

स्वामी सदानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

वराहनगर मठ में उनका सब कुछ ठीक ही चल रहा था, तो भी बंगाल की जलवायु उन्हें रास नहीं आ रही थी। इन्हीं दिनों उन्हें जो मलेरिया हुआ था, वही उनके शरीर को उत्तरोत्तर दुर्बल बनाये जा रहा था। आखिरकार सारदानन्दजी की सलाह पर वे कुछ समय के लिये अपने पूर्वाश्रम पश्चिमी भारत की ओर चले गये। गुप्त महाराज के माता-पिता तब भी जीवित थे – उन्हीं के अनुरोध पर संन्यासी पुत्र कुछ समय के लिये घर में रहने को राजी हुए। यदुनाथ गुप्त के बड़े पुत्र अधरचन्द्र ने काफी काल पूर्व ही संसार त्याग दिया था और शरत्चन्द्र भी संन्यासी हो गये थे। अत: शरत्चन्द्र के आने से वृद्ध माता-पिता के सूने हृदय में कितनी आशा तथा आनन्द का संचार हुआ होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कुछ काल पूर्वाश्रम के घर में निवास करने के बाद गुप्त महाराज अपने छोटे भाई के सहयोग से माता-पिता की सेवा में लग गये। जलवायु में परिवर्तन होने से उनके अपने स्वास्थ्य में भी काफी सुधार हुआ था। इस प्रकार माता-पिता को शान्ति प्रदान करने के बाद, अब वे स्वस्थ देह-मन लेकर पुन: आलमबाजार मठ लौट आये। सदानन्द अपने पिता के विषय में कहते थे, "पिता बड़े भक्त थे। मैं जब अन्तिम बार जौनपुर स्टेशन से रवाना हुआ, तो वे मुझे प्रणाम करने लगे। मैंने जब विशेष रूप से बाधा देते हुए कहा, 'बाबा, आप यह क्या कर रहे हैं, यह क्या कर रहे हैं', तो उन्होंने उत्तर दिया था, 'बेटा शरत्, तू साधु है न !' "

आलमबाजार मठ में सदानन्द की जीवन-धारा एक बार फिर उच्छ्वसित वेग से दौड़ने लगी। उनके हँसमुख, किन्तु साथ ही अन्तर्मुखी स्वभाव और बालक के समान खुशनुमा मिजाज तथा अल्प में ही सन्तुष्टि का भाव सबको सहज ही मुग्ध कर लेता था। उनकी जप-निष्ठा एक अनुकरणीय वस्तु थी। वे जब भी थोड़ा समय पाते, तो जप करने लगते। गीता, उपनिषद् तथा वेदान्त आदि के ग्रन्थ वे स्वयं नियमित रूप से पढ़ते और खूब निष्ठापूर्वक दूसरों से पाठ कराकर भी सुनते। तुलसीदासजी का 'राम-चरित-मानस' उन्हें बड़ा ही प्रिय था। इस ग्रन्थ का अधिकांश भाग उन्हें कण्ठस्थ था। अन्य धर्मग्रन्थों में बाइबिल के प्रति भी उनकी बड़ी श्रद्धा थी। आलमबाजार मठ में निवास के समय एक बार उन्होंने कुछ काल तक नियमित रूप से बाइबिल पढ़ा था। किसी घनिष्ठ व्यक्ति के आ जाने पर वे उसे भी बाइबिल पढ़कर सुनाने को कहते और स्वयं अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ मौन बैठकर बाइबिल की कथाओं को सुनते तथा उन पर ध्यान करते।

स्वामीजी उन दिनों भारत तथा विदेश के विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर रहे थे, परन्तु उनकी पत्रावली को पढ़कर दीख पड़ता है कि सदानन्द के प्रति उनका कितना लगाव था ! अपने गुरुभाइयों के नाम लिखे अनेक पत्रों में सदानन्द की कुशल-वार्ता जानने के लिये स्वामीजी ने कितना आग्रह व्यक्त किया है ! अपने इन शिष्य की योग्यता तथा शक्ति के विषय में भी आचार्यदेव की धारणा कितनी उच्च थी, यह भी इन पत्रों की भाषा में प्रकट हुआ है। आलमबाजार मठ के अपने गुरुभाइयों के नाम अपने एक प्रेरणादायी पत्र में उन्होंने लिखा है, "मैं मरूँ या जीवित रहूँ, स्वदेश लौटूँ या न लौटूँ, तुम लोग वितरण करो, प्रेम का वितरण करो। गुप्त को इस कार्य में लगाओ।" फिर मठ के ही सभी गुरुभाइयों तथा शिष्यों को लिखे हुए स्वामीजी के एक अन्य पत्र में, कई लोगों के साथ ही गुप्त महाराज का भी नामोल्लेख करते हुए लिखा हुआ है, "सभी के भीतर एक-एक महाशक्ति विद्यमान

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सिलवा रखे थे और दो धोतियाँ खरीद रखी थीं। उन्हें सन्तुष्टि के साथ खिलाकर मुझे रुपये देकर उन्हें ट्रेन में बिठा आने को कहा। एक पोस्टकार्ड पर उन्होंने मेरा नाम-पता लिखकर उन्हें देते हुए बोले, "लिखियेगा कि महापुरुष महाराज ने आपके साथ कैसा व्यवहार किया !" उन्होंने कहा, "ठीक है, लिखूँगा।" मठ पहुँचकर उन्होंने लिखा, "सभी मन्दिरों में प्रणाम करके मैं ज्योंही महापुरुष महाराज के कमरे में घुसा, वे चारपाई पर बैठे थे, वे तत्काल उठकर मुझे छाती से लगाकर बोले – बेटा, तू मेरे खिलाफ हाईकोर्ट में नालिश करने गया था। और कितनी ही स्नेहभरी बातें कहीं। मुझे खूब स्नेह किया।" इस घटना से पता चलता है कि वे लोग माँ को कितनी ऊँची दृष्टि से देखते और कितना उच्च मान-सम्मान देते। मास्टर महाशय को भी इस मामले में यथेष्ट साधु-सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस तरह उन्होंने बहुत साधु-सेवा की है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

है।'' स्वामीजी के इन पत्रों में नि:सन्देह एक अनुरागी शिष्य के प्रति गुरु का असीम स्नेह तथा अनन्त आशीर्वाद व्यक्त हुआ है। मठ के विभिन्न लोगों के नाम लिखे पत्रों में भी स्वामीजी अपने प्रिय शिष्य गुप्त का स्मरण करते, स्नेह तथा आशीर्वाद जताते और कुशल पूछते, इस पर सदानन्द गर्व तथा आह्लादपूर्वक कहते, "अरे, ऐसा न होने पर क्या मेरे गुरु हो पाते? मेरे जैसे हठी आदमी को वश में न ला पाने पर क्या कोई मेरा गुरु हो सकता था!'' कितनी सहज, सरल तथा मर्मस्पर्शी उक्ति है।

१८९७ ई. की जनवरी में स्वामीजी पाश्चात्य देशों से भारत लौटे। पूज्यपाद आचार्य का सर्वप्रथम स्वागत करने का गौरव दक्षिण भारत को ही प्राप्त हुआ था। स्वामीजी के मद्रास में पदार्पण करने पर हजारों नर-नारियों का एक विराट् जनसमुद्र उनकी एक झलक पाने को तरंगायित हो उठा था। समुचित मर्यादा-मण्डित एक सुसज्जित गाड़ी में स्वामीजी को बैठाकर भव्य शोभायात्रा के साथ राजपथ से लाया गया। उस दिन उनके उस यात्रापथ की धूलि का स्पर्श करने के लिये कितने ही राजमुकुट धरती में लोट रहे थे। मार्ग में पत्र-पुष्पों के तोरण-द्वार बनाये गये थे, भवनों के ऊपर रंग-बिरंगी पताकाएँ लहरा रही थीं और द्वार-द्वार पर पुष्प-मालाएँ झूल रही थीं। सम्पूर्ण नगरी ने उत्सव की बेशभूषा में सज्जित होकर युगाचार्य का अभिनन्दन किया था। शोभायात्रा के मार्ग में बीच-बीच में सुनहरे अक्षरों में चमक रहा था – 'आओ, श्रीरामकृष्ण के सुयोग्य शिष्य', 'पुरुषसिंह का स्वागत है', 'प्राचीन ऋषियों के युग-प्रतिनिधि का स्वागत है', 'भगवत्सेवक का स्वागत है', विश्ववन्द्य विवेकानन्द दीर्घजीवी हों', 'शान्ति के अग्रदूत का स्वागत है', 'स्वामी विवेकानन्द के प्रति जाग्रत भारत का सानन्द अभिनन्दन' आदि और वेद-उपनिषदों के चुने हुए मंत्र। राजपथ के दोनों ओर के घरों के द्वार पर, खिड़कियों में तथा छज्जों पर असंख्य दर्शनार्थी हाथ जोड़कर खड़े थे। कोई व्यक्ति चाहे कितना भी सम्मानित क्यों न रहा हो, मद्रासवासियों ने इसके पूर्व किसी भी मनुष्य का ऐसा स्वागत-समारोह कभी नहीं देखा था। लाखों कण्ठों से जय-जयकार तथा निरन्तर पुष्प-वृष्टि के बीच भी स्वामीजी सहसा किसी की ओर देखकर विचलित से हो गये। – इस अगणित जनसमूह में उनकी दृष्टि अवश्य ही किसी अत्यन्त प्रिय व्यक्ति के ऊपर जा पड़ी थी। सबने विस्मयपूर्वक देखा – "आओ, आओ सदानन्द, आओ वत्स, इधर आओ'' – कहते हुए स्वामीजी किसी को पुकार रहे थे। गाड़ी को रोककर सदानन्द को चढ़ाने के बाद स्वामीजी उन्हें परम स्नेहपूर्वक अपने पास बैठाकर ले चले। स्वामीजी के इस अभूतपूर्व स्वागत-समारोह को अपनी आँखों से देखने की इच्छा से सदानन्द मद्रास जा पहुँचे थे। स्वामीजी की शिष्य-वत्सल स्नेहदृष्टि ने उन्हें विशाल जनसमुद्र में भी बराबर ढूँढ़ निकाला था। परवर्ती काल में गुप्त महाराज उस दिन की इस स्मृति का स्मरण करते हुए अश्रुपात् किया करते थे।

मद्रास के भक्तगण, स्वामीजी से बारम्बार अनुरोध कर रहे थे कि वे उस अंचल में एक स्थायी मठ की स्थापना करें। इसीलिये आलमबाजार मठ लौटते ही स्वामीजी ने अपने गुरुभाई रामकृष्णानन्दजी को दक्षिण भारत के कार्य हेतु तैयार हो जाने को कहा। १८९७ ई. के मार्च में स्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य करके रामकृष्णानन्दजी मद्रास गये। साथ में उनके सहकारी थे स्वामी सदानन्द। इसी प्रकार दक्षिण भारत में रामकृष्ण मिशन का कार्य आरम्भ हुआ था। सदानन्द के कुशल सहयोग से स्वामी रामकृष्णानन्द ने शीघ्र ही वहाँ के आइस हाउस रोड पर एक किराये के मकान में रामकृष्ण आश्रम (Ramakrishna Home) की स्थापना की, जो मद्रास से बृहत् रामकृष्ण मठ तथा मिशन के केन्द्रों का प्रथम अंकुर था। यद्यपि यह छोटी-सी घटना विषय-वस्तु की दृष्टि से आवश्यक नहीं है, तो भी यहाँ पर स्मरणीय है और स्वामीजी की अपार स्नेहशीलता तथा शिष्य-वत्सलता का एक निदर्शन है। सदानन्द के मद्रास पहुँचने के कुछ दिनों के भीतर ही उन्हें एक कुत्ते ने काट लिया था। स्वामीजी तब दार्जिलिंग में थे। यह समाचार शीघ्र ही उनके पास पहुँच गया। २० मार्च (१८९७) को उन्होंने दार्जिलिंग से रामकृष्णानन्दजी को जो पत्र लिखा, उसमें सदानन्द के विषय में इस संवाद-प्राप्ति पर उन्हें चिन्तित तथा उद्विग्न देखा जा सकता है। उन्होंने लिखा है, "गुप्त को कुत्ते ने काटा है – इस समाचार से मैं अत्यन्त चिन्तित हूँ; परन्तु मैंने सुना है कि वह कुत्ता पागल नहीं है, अत: खतरे की कोई बात नहीं। जो भी हो, गंगाधर ने जो दवा भेजी है, उसका प्रयोग अवश्य होना चाहिये।'' इस साधारण-सी घटना से भी उसकी समुचित धारणा की जा सकती है कि अनुगत गुप्त के प्रति स्वामीजी का कितना ध्यान रहता था।

इसके बाद स्वामीजी के पंजाब, काश्मीर तथा उत्तरांचल-भ्रमण के समय, सदानन्द को एक बार फिर उनका पूत-सान्निध्य प्राप्त हुआ। स्वामीजी की इस यात्रा के दौरान हुई अनेक घटनाओं के सदानन्द प्रत्यक्ष द्रष्टा थे। इन दिनों की स्मृतियाँ सदानन्द के समग्र जीवन में प्रिय तथा मधुर तो थी हीं, साथ ही केवल ऐतिहासिक तथ्यों से मण्डित ही नहीं, अपितु प्रेरणा की एक अजस्र उद्गम भी थीं। स्वामीजी के घनिष्ठ साहचर्य ने इन स्मृति-चित्रों को एक अवर्णनीय माधुर्य से भर दिया था। बाद में सदानन्द द्वारा प्रदत्त उस काल की घटनाओं का वर्णन तथा भगिनी निवेदिता द्वारा लिपिबद्ध विवरण – स्वामीजी की जीवनी के लिये मूल्यवान उपादान सिद्ध हुए। उल्लेखनीय है कि उस समय भगिनी निवेदिता भी उन लोगों के

साथ थीं। सदानन्द ने स्वामीजी के खेतड़ी-परिदर्शन पर एक सुन्दर लेख लिखा था, जो उसी वर्ष (१८९७) की 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के १२ दिसम्बर के अंक में प्रकाशित हुआ था। खेतड़ी में सदानन्द से सम्बन्धित एक बड़ी मजेदार घटना हुई थी –

सदानन्द पहले से ही थोड़े दु:साहसी स्वभाव के थे। स्वामीजी उस समय अपनी टोली के साथ खेतड़ी-राजा के अतिथि थे। वहाँ एक दिन सदानन्द एक अत्यन्त उद्दण्ड तथा तेज घोड़े पर सवार होकर उसे दौड़ाने लगे। स्वामीजी राजमहल की छत पर खड़े-खड़े अपलक नेत्रों से विस्मयपूर्वक अपने शिष्य का यह कृत्य देख रहे थे। पास ही खड़े खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह तथा अन्य सभी लोग उस दुष्ट घोड़े की पीठ पर चढ़कर उसे दौड़ाते हुए देखकर भयभीत हो गये थे। परन्तु सदानन्द उस अदम्य घोड़े की रास को दृढ़ हाथों से थामे हुए तीर-वेग से चले जा रहे थे। शिष्य की इस परम दृढ़ता को देखकर स्वामीजी उस दिन बड़े खुश हुए थे। उनके लौट आने पर स्वामीजी ने आह्लादपूर्वक उनकी पीठ ठोकते हुए कहा था, "बाबा सदानन्द, तुम्हीं मेरे ठीक-ठीक मर्द चेले हो !"

सदानन्द की जीवन-कथा में एक अन्य ऐसी ही घटना उल्लेखनीय है। यह १९०१ ई. की जनवरी में घटित हुई थी। उस समय स्वामीजी मायावती पहाड़ से नीचे उतर रहे थे और टिहरी से पीलीभीत के मार्ग पर चल रहे थे। उनकी टोली में स्वामी शिवानन्द तथा सदानन्द भी थे और स्वामीजी को पीलीभीत तक छोड़ने के लिये मायावती से स्वामी विरजानन्द भी आये हुए थे। डण्डियाँ तथा घोड़े आदि की व्यवस्था हुई थी। सदानन्द ने एक घोड़ा चुन लिया, जो सबसे तेज था। बड़े उत्साहपूर्वक उनके घोड़े पर बैठते ही सदानन्द क्षण भर में ही न जाने कहाँ अदृश्य हो गये। टनकपुर के आगे मील भर और चलने के बाद भी सदानन्द या उनके घोड़े का कोई चिह्न न पाकर स्वामीजी चिन्तित हो गये। बाद में उधर से आ रहे एक राहगीर ने जो समाचार दिया, उससे तो स्वामीजी और भी अधिक उद्विग्न हो गये। पथिक ने बताया कि थोड़ी देर पहले एक घोड़ा उन्मत्त होकर अपने सवार के साथ विद्युत्-वेग से दूर मैदान की ओर जाकर लुप्त हो गया है। कुछ लोगों ने उस मैदान की ओर जाकर उन्हें ढूँढ़ना आरम्भ किया। तभी देखने में आया कि सदानन्द एक विजयी सैनिक की भाँति घोड़े को हाँकते हुए उधर ही दौड़े चले आ रहे हैं। सभी निश्चिन्त हुए – स्वामीजी ने भी शान्त होकर शिष्य के मुख से सब कुछ सुना। पता चला कि घोड़े ने एक बार अपने वीर सवार को नीचे भी गिरा दिया था, परन्तु ईश्वर की कृपा से उनकी जान बच गयी और उन्हें कोई विशेष चोट भी नहीं आयी थी। स्वामीजी ने उस दिन भी अपने इस बलिष्ठ शिष्य के साहस की खूब तारीफ की थी। सदानन्द के अटूट मनोबल, निष्ठा तथा साधु-चरित के ऊपर स्वामीजी की बड़ी आस्था थी। सदानन्द की जीवनी का अध्ययन करने पर इसके अनेक उदाहरण देखने को मिलेंगे।

स्वामीजी के साथ इस उत्तरभारत भ्रमण के दौरान सदानन्द कई मर्मान्तक ऐतिहासिक घटनाओं के साक्षी हुए। स्वामीजी की टोली उस समय अल्मोड़ा में थी। यही पर उन्हें गाजीपुर के सुविख्यात योगी पवहारी बाबा द्वारा यज्ञाग्नि में अपने देह की आहुति प्रदान करने का समाचार मिला था। स्वामीजी की जीवनी के पाठकगण जानते हैं कि अपने परिव्राजक-जीवन में एक बार वे इन महान योगी के अलौकिक चरित्र से कितने प्रभावित हुए थे। इसीलिये यह बड़ा ही स्वाभाविक था कि उनके निधन के इस समाचार ने स्वामीजी को अत्यन्त शोकमग्न कर दिया था। उनके निकट रहनेवाले सदानन्द, निवेदिता आदि ने बाबा के विषय में स्वामीजी की यह सश्रद्ध उक्ति सुनी थी – "पवहारी बाबा ने अपने शरीर की पूर्णाहुति देकर अपने यज्ञों का समापन कर लिया है। यज्ञ की अग्नि में उन्होंने अपनी देह को जला दिया है।"

इसके बाद एक और मर्मभेदी घटना हुई – गुडविन का देहान्त। ४ जून १८९८ को, वज्राघात के समान टेलीग्राम द्वारा सूचना आयी – गुडविन ने २ जून को ऊटकमण्ड में देहत्याग कर दिया है। यह तार स्वामीजी के नाम भेजा गया था, परन्तु सर्वप्रथम यह सदानन्द के हाथ में आया। स्वामीजी के एक विश्वस्त शिष्य के इस अप्रत्याशित निधन का संवाद पाकर सदानन्द अपने नेत्रों का जल रोक नहीं सके। "समझा कि पुत्रशोक कितना भयंकर होता है !" – प्रिय गुडविन की शोक-पीड़ा से उत्थित स्वामीजी की इस उक्ति ने सदानन्द को और भी व्यथित कर दिया। स्वामीजी ने करुण स्वर में कहा था, "अहा, गुडविन यदि बचा रहता, तो और भी कितने सारे कार्य कर पाता !" स्वामीजी का स्निग्ध-कोमल मन इन कुछ दिनों के लिये कैसा विषादमय हो उठा था, यह सदानन्द ने अपनी आँखों से देखा था। शोकोच्छ्वास में स्वामीजी बोल उठे थे, "अब मेरे व्याख्यानों का दौर समाप्त हो गया है।" फिर स्वामीजी के मुख से यह खेदोक्ति भी सुनने को मिली थी – "गुडविन के चले जाने से मेरा दाहिना हाथ टूट गया है; इस नुकसान की कोई सीमा नहीं है। लगता है कि माँ की इच्छा नहीं कि मैं और कार्य करूँ। अबसे मुझे अपने ही हाथों लिखना होगा। व्याख्यान देना बिल्कुल बन्द हो जायेगा !"

❖ (क्रमशः) ❖

इलाहाबाद मठ की शताब्दी – एक विहंगावलोकन

स्वामी विदेहात्मानन्द

स्वामीजी का प्रयाग में कल्पवास

स्वामी विवेकानन्द ने १८९० ई. दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह से लेकर १८९१ ई. के जनवरी के तीन सप्ताह – इस प्रकार कुल एक माह इलाहाबाद में बिताये थे। बाद में उसी वर्ष के पूर्वार्ध में स्वामी अभेदानन्द स्वामी सदानन्द भी इलाहाबाद आये और कई महीने झूसी में तपस्या की।

मठ की परिकल्पना – इलाहाबाद में केन्द्र

तीर्थराज प्रयाग या इलाहाबाद में प्रति बारह वर्षों में होने वाला विश्व का सबसे विराट् धार्मिक आयोजन – कुम्भमेला और प्रतिवर्ष माघ के माह भर चलने वाला 'कल्पवास' पूरे भारत में आध्यात्मिक विचारों के प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। इसी कारण अमेरिका में रहते समय ही स्वामीजी के मन में वहाँ एक केन्द्र स्थापित करने की इच्छा थी।

भारत में जो पाँच केन्द्र बनाने का उनका विचार था, उनमें से इलाहाबाद भी एक था। उन्होंने २० नवम्बर १८९६ ई. को लन्दन से अपने मद्रास के शिष्यों के नाम लिखे एक पत्र में अपने भारत लौटने की सूचना देते हुए बताया है कि **अल्मोड़ा** में वे अपना 'हिमालय का केन्द्र' बनाएँगे और युवक प्रचारकों को शिक्षा देने के लिए **कोलकाता** तथा **मद्रास** में और भी दो केन्द्र स्थापित होंगे। "इन तीनों केन्द्रों से हम काम आरम्भ करेंगे। इसके बाद **बम्बई** और **इलाहाबाद** में करेंगे। यदि भगवान की कृपा हुई, तो इन स्थानों से हम न केवल भारत अपितु सारी दुनिया में प्रचारकों का दल भेजेंगे।" अत: हम देखते हैं कि प्रचार-केन्द्र के रूप में तीर्थराज प्रयाग ने स्वामीजी के मन पर विशेष अधिकार जमा रखा था।

'ब्रह्मवादिन क्लब' की स्थापना

कोलकाता के शरत्‌चन्द्र मित्र ने वहाँ के पारसी बागान में एक 'रामकृष्ण-समिति' की स्थापना की थी। वे वराहनगर मठ भी आते-जाते थे। १८९७ ई. में वे जलवायु-परिवर्तन हेतु इलाहाबाद आये और एक शिवालय के एक छोटे-से कमरे में श्रीरामकृष्ण का चित्र रखकर पूजा-पाठ आदि करने लगे। कुछ समवयस्क स्थानीय युवक भी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: इस भावधारा से परिचित हुए। शरत् बाबू के प्रोत्साहन से सबने मिलकर 'ब्रह्मवादिन-क्लब' नाम से एक संस्था बनायी। स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा तथा सहायता से उनके मद्रास के भक्तों ने १८९५ ई. से अंग्रेजी भाषा में 'ब्रह्मवादिन' नामक पाक्षिक पत्रिका निकालना आरम्भ किया था। उसी से प्रेरित होकर इलाहाबाद की इस संस्था का नाम 'ब्रह्मवादिन-क्लब' रखा गया था, जो बड़े रेलवे स्टेशन के निकट एक किराये के भवन की दूसरी मंजिल पर चलता था। क्लब के अन्य सदस्य थे – हरेन्द्रनाथ दत्त, मन्मथनाथ गांगुली, अमूल्य मुखोपाध्याय और सिधूलाल बसु।

स्वामीजी के सान्निध्य में मन्मथनाथ गांगुली

'ब्रह्मवादिन-क्लब' के एक सदस्य मन्मथनाथ गांगुली दिसम्बर (१८९८) के अन्त में एक दिन बेलूड़ मठ गये और स्वामीजी से भेंट की। इसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है – "स्वामीजी ने मेरा परिचय पूछा कि मैं कहाँ रहता हूँ, क्या करता हूँ, आदि। मैंने बताया – इलाहाबाद में रहता हूँ। मठ में इसके पूर्व भी मैं जाया करता था और सम्भवत: किसी के मुख से उन्होंने मेरा नाम सुन रखा था। इलाहाबाद में मेरे कुछ मित्र श्रीरामकृष्ण का चित्र रखकर पूजा किया करते थे। हम लोग जहाँ पूजा करते, वहीं जप, ध्यान तथा धर्मग्रन्थों का पाठ और उन पर चर्चा भी हुआ करती थी। हमारी संस्था का नाम था 'ब्रह्मवादिन-क्लब'। स्वामीजी के साथ तब इस विषय में कोई चर्चा नहीं हुई, परन्तु उनके भाव से लगा कि उन्होंने इस विषय में सुन रखा है।... थोड़े दिनों बाद ही मैं कलकत्ते से इलाहाबाद लौट आया। उन दिनों मैं 'ब्रह्मवादिन-क्लब' में ही रहा करता था।"[१]

स्वामी विज्ञानानन्द का इलाहाबाद आगमन

१९०० ई. के मध्य में (क्लब के संस्थापक) शरत् बाबू कोलकाता लौट गये और तब से बाकी युवक इसे चलाते रहे। इनमें से अधिकांश उन दिनों छात्र ही थे। उसी वर्ष स्वामीजी ने विज्ञानानन्दजी को एक स्थायी मठ की स्थापना के लिये इलाहाबाद भेजा। क्लब के युवकों ने एक दिन सुना कि श्रीरामकृष्ण के एक अन्तरंग शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द आकर मुट्ठीगंज में डॉ. महेन्द्रनाथ ओहदेदार के यहाँ ठहरे हैं। अगले दिन उन लोगों ने जाकर महाराज का दर्शन किया और 'ब्रह्मवादिन-क्लब' में चरणधूलि देने का अनुरोध किया।[२]

इन नवयुवकों के अनुरोध पर वे गुड्सशेड रोड पर स्थित 'ब्रह्मवादिन-क्लब' में चले आये। इस क्लब में उन्होंने दस वर्ष बिताये थे। उनके जीवन का वह काल तपस्या तथा साधना से परिपूर्ण था। भोजन पकाना, बरतन माँजना, पड़ोस से पानी लाना आदि दैनन्दिन गृहकर्म वे अपने हाथों से किया करते थे। ब्राह्म मुहूर्त के पहले ही उठकर कुछ घण्टे ध्यान में बिताने के पश्चात् दोपहर तक का शेष समय वे पूजा तथा अध्ययन आदि में व्यतीत करते। दोपहर को वे फिर ध्यान करते। इन्हीं दिनों उन्होंने पं. भगवद्दत्त जी से वेदों का अध्ययन किया था। शाम के समय वे क्लब में आनेवाले

बच्चों तथा युवकों के लिये गीता की कक्षा लिया करते।[३]

'ब्रह्मवादिन् क्लब' में निवास करते समय जब वे बेलूड़ मठ जाते तो स्वामीजी उन्हें 'इलाहाबाद के धर्माचार्य' कहकर विनोद किया करते थे। विज्ञानानन्दजी के प्रयाग आने के करीब डेढ़ वर्ष बाद ४ जुलाई १९०२ को स्वामीजी महासमाधि में लीन हुए। उसके कुछ दिन पूर्व ही स्वामी विज्ञानानन्द बेलूड़ मठ से लौटे थे। इस विषय में उन्होंने बताया था – "स्वामीजी के देहत्याग के समय मुझे एक अलौकिक दर्शन हुआ था। मैं इलाहाबाद के ब्रह्मवादिन क्लब के मन्दिर में बैठा ध्यान कर रहा था। देखा – स्वामीजी ठाकुर की गोद में बैठे हुए हैं। सोचा – अरे, यह क्या बात है? बाद में बेलूड़ मठ से तार मिला कि स्वामीजी ने देहत्याग कर दिया है।"

इलाहाबाद में स्वामीजी के गुरुभाई तथा शिष्य

स्वामीजी की अमेरिका की द्वितीय यात्रा एक माह बाद जुलाई १८९९ ई. में उनके एक शिष्य **स्वामी कल्याणानन्द** तीर्थयात्रा तथा तपस्या के लिये निकले। इलाहाबाद पहुँचकर वहाँ वे सेवा-कार्यों में लग गये। उन्होंने इलाहाबाद-अनाथालय नामक एक स्थानीय संस्था के संचालकों तथा कर्मियों को स्वामीजी के भावों से प्रेरित किया और उनके सेवा-कार्यों को सफल तथा सार्थक बनाने का जी-जान से प्रयास किया। इस समय वे सम्भवत: 'ब्रह्मवादिन क्लब' में ठहरे थे। तब तक विज्ञानानन्दजी का इलाहाबाद आगमन नहीं हुआ था। परवर्ती काल में कुम्भ-मेला के सेवा-कार्यों की व्यवस्था के सिलसिले में उनका दो बार और भी इलाहाबाद आना हुआ था।[४]

१९०२ ई. की सर्दियों में स्वामीजी के दो अन्य शिष्य – **स्वामी विमलानन्द तथा स्वरूपानन्द** मायावती (हिमालय) से इलाहाबाद आये और धर्म-प्रचार हेतु करीब तीन माह यहीं निवास किया था। फरवरी १९०३ ई. में दोनों ने अंग्रेजी भाषा में वेदान्त पर कई व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों से व्यक्त उनके विशद ज्ञान तथा उनकी सहज प्रस्तुति से श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो उठे थे। इलाहाबाद की जनता ने उनकी विद्वत्ता एवं साधुता पर आकृष्ट होकर उनसे अनुरोध किया कि वे वहाँ रामकृष्ण मिशन का एक स्थायी प्रचार-केन्द्र स्थापित करें।[५] परवर्ती काल में स्वामीजी के एक अन्य शिष्य **शुभानन्दजी** ने भी प्रयाग आकर तपस्या की थी।

संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द तथा अन्य गुरुभाई

१९०३ ई. में कनखल से लौटते समय विंध्याचल होते हुए इलाहाबाद भी गये और वहाँ कुछ दिन स्वामी विज्ञानानन्द के साथ बिताये। महाराज के साथ आये नीरद महाराज (अम्बिकानन्द) खूब भजन गाते थे और नवगोपाल बाबू तबला बजाते थे। क्लब में उस समय मानो आनन्द का बाजार लग गया था। अगले वर्ष **स्वामी तुरीयानन्द** भी आकर ७-८ दिन विज्ञान महाराज के पास थे। वे खूब ध्यान-भजन करते थे और प्राय: ही तन्मय होकर 'भवे सेइ से परमानन्द' भजन गाया करते थे। १९०६ ई. में पूजनीय **अभेदानन्द** अमेरिका से स्वदेश लौटकर एक बार इलाहाबाद आये और बहादुरगंज में श्रीशचन्द्र बसु का आतिथ्य ग्रहण किया। वे सारे दिन ब्रह्मवादिन क्लब में विज्ञान महाराज के पास रहकर बातचीत आदि करते रहे और शाम को 'मेयो हॉल' में आयोजित अपनी स्वागत सभा में गये थे।[६]

'ब्रह्मवादिन क्लब' से 'रामकृष्ण विवेकानन्द मन्दिर'

इस प्रकार यह ब्रह्मवादिन क्लब ही मानो इलाहाबाद के रामकृष्ण मठ तथा मिशन की नींव थी। स्वामी विज्ञानानन्दजी द्वारा मठ की स्थापना के बाद भी यह क्लब चलता रहा। बाद में १९२० वाले दशक में उक्त संस्था के पदाधिकारियों ने मुट्ठीगंज-मठ के समीप ही २ डी. रोड पर एक भूखण्ड लेकर उसी पर एक नये भवन का निर्माण किया, 'श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-मन्दिर' कहलाया। १९२६ ई. में बेलूड़ मठ में सम्पन्न हुए प्रथम कनवेंशन की रिपोर्ट (पृ. २७८, २९४) में बताया गया है कि उन दिनों रा. वि. मन्दिर में भी नियमित रूप से बैठकें और बीच-बीच में प्रवचन हुआ करते थे। बाद में सड़क के चौड़ीकरण हेतु नगरपालिका ने गुड्स शेड रोड पर स्थित पुराने भवन को गिरा दिया था। १९२७-२८ ई. में ब्रह्मवादिन-क्लब अपने ही भवन में स्थानान्तरित हो गया और उसका नया नाम हुआ – 'श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-मन्दिर'।[७]

१९३६ ई. में श्रीरामकृष्ण की जन्म शताब्दी के अवसर पर वहाँ से श्रीरामकृष्ण की संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेशों की १४ पृष्ठों की एक छोटी पुस्तिका भी प्रकाशित हुई। क्रमश: इस संस्था की गतिविधियाँ घटते हुए अन्तत: बन्द हो गयीं।

इलाहाबाद में मठ की स्थापना

३१ जनवरी १९१० ई. को विज्ञानानन्दजी ने प्रयाग के मुट्ठीगंज मुहल्ले में देवेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय से ४००० रुपयों में एक मकान तथा सड़क के उस पार स्थित एक भूखण्ड को खरीदा। मकान दुमंजला था, पर दूसरी मंजिल में दरार होने के कारण उस मंजिल पर केवल एक कमरा छोड़ बाकी सब को गिरा दिया गया। मकान की मरम्मत तथा नये भवन का निर्माण हो जाने के बाद उसी वर्ष के अक्तूबर माह में वहाँ रामकृष्ण मठ तथा मिशन-सेवाश्रम के चिकित्सालय की स्थापना हुई। तब से महाराज मठ में निवास करने लगे।[८] १९१९ ई. की फरवरी में २३०० रुपयों में मठ से लगी हुई कुछ और भी जमीन खरीद ली गयी। १९४२ तथा १९४५ में आश्रम से लगे हुए और भी दो भूखण्ड खरीदे गये, जिन पर भवन बनाकर विविध कार्यों का विस्तार किया गया।

इस नये मठ तथा सेवाश्रम के कार्य में सहायता करने

हेतु वे वाराणसी सेवाश्रम से ब्रह्मचारी पंचानन (देवता महाराज) को अपने साथ ले आये थे। ये १९१० से १९२४ ई. तक चिकित्सालय का कार्य देखते रहे तथा मठ के अन्य कार्यों में भी विज्ञान महाराज की सहायता करते रहे।[९]

स्वामी ब्रह्मानन्दजी का पुनः आगमन

रामकृष्ण मठ तथा मिशन के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज १९१४ में वाराणसी से इलाहाबाद आये और वहाँ तीन रात निवास किया। इस दौरान उन्होंने वेणीमाधव तथा त्रिवेणी संगम का दर्शन करके दिव्य आनन्द का अनुभव किया। उनके साथ स्वामी प्रेमानन्दजी भी पधारे थे।

मठ में आयोजित प्रारम्भिक उत्सव

'प्रबुद्ध भारत' मासिक के अप्रैल १९११ ई. अंक में उस वर्ष इलाहाबाद मठ में मनाये गये श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव का रिपोर्ट मुद्रित हुई है – गुरुवार, २ मार्च १९११ ई. को मुट्ठीगंज स्थित मठ में निम्नलिखित कार्यक्रम के साथ तिथिपूजा मनायी गयी : पूजा तथा प्रसाद-वितरण – पूर्वाह्न में ७ से १२ बजे तक, भजन – अपराह्न में ४ से ७ बजे तक।

१९१५ ई. में यह तिथिपूजा मंगलवार, १६ फरवरी को सम्पन्न हुई। क्रार्यक्रम इस प्रकार थे – पूजा ९ से ११ बजे तक, भजन १२ से १ बजे तक, दरिद्र-नारायण-सेवा १ से २ बजे तक और प्रसाद-वितरण ३ से ६ बजे तक हुआ।

मठ-भवन का जीर्णोद्धार

विज्ञानानन्दजी जिस मठ-भवन में निवास करते थे, १९७० के दशक में उसके छत आदि की हालत जर्जर हो गयी और उसके भी जीर्णोद्धार की जरूरत महसूस होने लगी। इस भवन के पुनर्निर्माण का कार्य १९७४ में शुरू हुआ और उसी वर्ष स्वामी विज्ञानानन्द जी जन्म-दिवस के अवसर पर रामकृष्ण संघ के परम अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्दजी के कर-कमलों से इस 'विज्ञानानन्द-कुटीर' का उद्घाटन सम्पन्न हुआ। इलाहाबाद के ही दैनिक 'भारत' में प्रकाशित समाचार इस प्रकार है –

निवास कुटीर का उद्घाटन

''प्रयाग, ३० नवम्बर। भगवान श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य और संस्थापक श्रीमत् स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज के १०७ वें जन्म दिवस के अवसर पर उनके पुनर्निर्मित निवास कुटीर का कल प्रात: उद्घाटन सम्पन्न हुआ। उक्त कुटीर में उन्होंने अपने जीवन के सुदीर्घ ३० वर्ष बिताये थे। रामकृष्ण मठ और मिशन के वर्तमान अध्यक्ष परमपूज्य श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने उद्घाटन करने के पश्चात् उपस्थित भक्तगण को आशीर्वाद देते हुए विज्ञानानन्दजी के जीवन की एक अत्यन्त मार्मिक घटना सुनायी, जिसने उनके जीवन को एक नई दिशा प्रदान की थी।

''स्थानीय रामकृष्ण मठ के अध्यक्ष स्वामी व्योमानन्दजी ने संक्षेप में मठ का इतिहास प्रस्तुत किया और बताया कि कैसे वे सदा स्वामी विज्ञानानन्दजी के व्यक्तित्व से पथ-प्रदर्शन पाते रहे हैं। उन्होंने उन सभी लोगों को धन्यवाद दिया, जिन्होंने विज्ञानानन्द कुटीर के निर्माण में योगदान किया है। समारोह पूरे दिन भर चलता रहा। मुख्य कार्यक्रम थे मंगल आरती, वेदपाठ, विशेष पूजा, स्वामी विज्ञानानन्दजी के जीवन और शिक्षाओं पर प्रवचन, संध्या-आरती और अनिल बोस व पार्टी द्वारा काली-कीर्तन। सैकड़ों भक्तों एवं सहयोगियों ने उत्सव में भाग लिया।''

मन्दिर का निर्माण

स्वामी विज्ञानानन्दजी के जीवन-काल में पुराने मठ-भवन का एक छोटा-सा कमरा ठाकुर-घर के रूप में उपयोग होता था। अध्यक्ष होने के बाद महाराज उसी मन्दिर में मंत्रदीक्षा भी दिया करते थे। पर क्रमश: भक्तों की संख्या बढ़ने लगी और विशेषकर उत्सव आदि के समय एक बड़े मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह की आवश्यकता का अनुभव हुआ करता था। आखिरकार, मठ के स्वर्ण-जयन्ती वर्ष १९६० ई. में, पुराने मठ से ही लगे, विज्ञान महाराज के समय में ही निर्मित 'विज्ञान्त भवन' की दूसरी मंजिल पर एक बड़े मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह का निर्माण हुआ। १९७८ ई. में मन्दिर के द्वार को बड़ा किया गया और नये बड़े आकार के चित्रपट-विग्रहों की स्थापना हुई। २०१० में मठ की शताब्दी के अवसर पर नये गर्भगृह का निर्माण तथा पूरे प्रार्थना-गृह का जीर्णोद्धार किया गया।

मठ तथा मिशन सेवाश्रम की गतिविधियाँ

१. आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक –

(क) प्रतिदिन मन्दिर में पूजा, आरती तथा प्रार्थना-भजन होते हैं, जिससे प्रार्थनागृह में ध्यान तथा साधना के लिए आध्यात्मिक परिवेश बनता है।

(ख) हर एकादशी को रामनाम संकीर्तन, पूर्णिमा को श्यामनाम संकीर्तन और अमावस्या को मातृनाम संकीर्तन का आयोजन किया जाता है।

(ग) श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी विज्ञानानन्द तथा अन्य महापुरुषों के जन्मतिथि पर उत्सव।

(घ) आश्रम में तथा बाहर धार्मिक प्रवचन तथा व्याख्यान

(ङ) बीच-बीच में साधना-शिविरों का आयोजन

(च) विभिन्न शैक्षणिक स्तर के छात्र-छात्राओं के बीज पाठावृत्ति, भाषण तथा वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का आयोजन

२. दातव्य चिकित्सालय –

जैसा कि बताया जा चुका है विज्ञानानन्दजी ने १९१० ई. के अक्तूबर से नये मठ-भवन में रहने चले आये। उसी

समय सड़क-पार की जमीन पर जो भवन बनाया गया था, उसमें तत्काल धर्मार्थ चिकित्सालय भी शुरू कर दिया गया। १९१० से १९२४ ई. तक ब्रह्मचारी पंचानन (देवता महाराज) ही चिकित्सालय का संचालन करते रहे। (बाद में वे तपस्या हेतु बिठूर चले गये।) इस काल के 'प्रबुद्ध भारत' मासिक में प्रकाशित रिपोर्टों से चिकित्सालय के विकास का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है –

रोगियों की संख्या

प्रथम वर्ष – अक्तूबर १९१० से दिसम्बर १९११ तक ५,२९२ रोगियों की चिकित्सा की गयी।

तीसरा वर्ष – १९१३ – ५,०६० रोगी, जिनमें से ४,४१६ हिन्दू, ५२३ मुसलमान और ८८ ईसाई थे।

चौथा वर्ष – १९१४ – ६,४७८ रोगी

पाँचवाँ वर्ष – १९१५ – कुल १३,७३८ रोगी, जिनमें ६,८०९ नये रोगी थे।

नौवाँ वर्ष – १९१९ – कुल ११,१४३ रोगी, जिनमें ५९५० नये रोगी थे। इनमें ५२८३ हिन्दू, ५८२ मुसलमान, ३० ईसाई और ५५ अन्य सम्प्रदायों के थे।

दसवाँ वर्ष – १९२० – कुल १३,६०३ रोगी, जिनमें ६,६३० नये रोगी थे। इनमें ५,६८१ हिन्दू, ५९८ मुसलमान, ४८ ईसाई और २८८ अन्य सम्प्रदायों के थे।

आय-व्यय का लेखा

१९१३ – में कुल १६३१ रुपये खर्च हुए और १७८ रुपये ५ आने नकद बचे।

१९१९ – जनवरी से दिसम्बर तक – प्राप्ति – ३६३६ रुपये १० आने; खर्च – ३३८२ रुपये १४ आने; नकद बचे – २५३ रुपये १२ आने।

प्रबुद्ध भारत के दिसम्बर १९१४ ई. अंक में प्रकाशित तीसरे वर्ष अर्थात् १९१३ तथा बाद के रिपोर्टों में बताया गया है कि छह बिस्तरों के अस्पताल के साथ ही एक शल्य-चिकित्सा तथा संक्रामक रोग विभाग का भी निर्माण करने की योजना है। इसी पत्रिका के १९२० के अप्रैल अंक में सूचित किया गया है कि इनडोर अस्पताल तथा कर्मियों के लिये निवास-स्थान बनाने हेतु मठ से लगी हुई जमीन खरीद ली गयी है। यह अस्पताल विद्यान्त भवन के सामने बनाने की योजना थी, पर बाद में इसे छोड़ दिया गया।

चिकित्सालय भवन का पुनर्निर्माण

१९१० से ही करीब ६० वर्षों तक चिकित्सालय अपने मूल भवन में ही चलता रहा। क्रमश: वह भवन जर्जर हो गया था और उसके जीर्णोद्धार की जरूरत महसूस होने लगी। १९७२ ई. में उस पुराने भवन के स्थान पर एक आधुनिक दुमंजले भवन का निर्माण किया गया। २००४ ई. में इसके तीसरे मंजिल का भी निर्माण हुआ। चिकित्सालय में पहले केवल होम्योपैथिक विभाग ही कार्यरत था। १९७२ इसके कार्य का समय बढ़ाकर १ से ४ घण्टे कर दिया गया। बाद में इसमें एलोपैथी विभाग भी शुरू किया गया, जिसका उद्घाटन १२ अप्रैल १९८१ ई. को स्वामी लोकेश्वरानन्द जी के हाथों सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर आयोजित सभा की अध्यक्षता हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने की। वर्तमान में इस चिकित्सालय में अनेक विभाग चल रहे हैं और नगर के अनेक विशेषज्ञ डॉक्टर इसमें सेवा प्रदान करते हैं। अब इसमें प्रति वर्ष लगभग ८०,००० रोगियों की चिकित्सा की जाती है।

१३ सितम्बर १९९९ ई. से सेवाश्रम एक चल-चिकित्सालय का भी संचालन कर रहा है।

३. सार्वजनिक ग्रन्थालय तथा वाचनालय –

स्वामी विज्ञानानन्द के जीवन काल में ही निर्मित मठ से लगे 'विद्यान्त-भवन' में १९४० ई. में एक छोटा-सा ग्रन्थालय तथा वाचनालय आरम्भ किया गया। इसकी शुरुआत विज्ञान महाराज के व्यक्तिगत ग्रन्थ-संग्रह से ही हुई थी। १९५६ ई. में ग्रन्थालय का अपना भवन बनकर तैयार हो जाने पर इसे उसी में स्थानान्तरित कर दिया गया। अगले वर्ष ग्रन्थालय भवन के ऊपर 'तीनकौड़ी मेमोरियल हॉल' के नाम से एक सभागार का भी निर्माण कर लिया गया। इसी हॉल में शास्त्रों पर साप्ताहिक कक्षाएँ और विशेष अवसरों पर सभाओं तथा प्रवचनों का आयोजन किया जाता है। १९७५ ई. के उत्तरार्ध में ग्रन्थालय में एक बाल-विभाग भी शुरू किया गया। २००२ ई. में इस ग्रन्थालय-भवन तथा सभागार का विस्तार किया गया। ग्रन्थालय में अब करीब २७,००० ग्रन्थ हैं और वाचनालय में ६१ समाचार-पत्र तथा पत्रिकाएँ आती हैं। इस समय इसके लगभग ८०० नियनित सदस्य हैं। यह नगर का सबसे प्रमुख सार्वजनिक ग्रन्थालय बन चुका है।

४. ग्रन्थ प्रकाशन तथा विक्रय विभाग – रामकृष्ण-विवेकानन्द तथा अन्य धार्मिक तथा जीवनोपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन तथा प्रचार मठ तथा मिशन की एक प्रमुख गतिविधि है। पहले कार्यालय में ही साहित्य विक्रय हेतु कुछ आलमारियों में पुस्तकें रखी जाती थीं। बाद में क्रमश: मठ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या तथा बिक्री में वृद्धि होते जाने के कारण १९७९ ई. में इसे अलग से ग्रन्थ-विक्रय विभाग का रूप दिया गया। २२ अगस्त २००१ ई. से रेलवे स्टेशन पर भी मठ की ओर से एक बुकस्टाल चलाया जा रहा है।

विज्ञानानन्द जी के ग्रन्थ

जैसा कि हम जानते हैं कि विज्ञान महाराज एक महान् विद्वान् थे और उन्होंने 'ब्रह्मवादिन् क्लब' तथा इस मठ में

निवास के दौरान अनेक ग्रन्थों का अनुवाद या लेखन तथा प्रकाशन किया था।

(१) श्रीरामकृष्ण की जीवनी तथा उपदेशों की पुस्तक 'परमहंस-चरित', १९०४ ई. में ब्रह्मवादिन क्लब से प्रकाशित। १९२१ ई. में वहीं से पुनर्मुद्रित – (समीक्षा – प्रबुद्ध भारत के फरवरी १९२२ अंक में प्रकाशित।)

(२) देवी-भागवतम् – ३ खण्ड (अंग्रेजी अनुवाद सहित)

(३) श्रीरामगीता (अंग्रेजी अनुवाद सहित)।

(४) वाल्मीकि रामायण (अंग्रेजी अनुवाद सहित) (अपूर्ण)

(५) सूर्य सिद्धान्त (बँगला अनुवाद सहित); समीक्षा – प्रबुद्ध भारत के जुलाई १९११ अंक में प्रकाशित।

(७) जल सरबराहेर कारखाना – दो खण्ड (बँगला) समीक्षा प्रबुद्ध भारत के जुलाई १९११ अंक में प्रकाशित।

(६) वराहमिहिर-कृत बृहज्जातकम् (अंग्रेजी अनुवाद सहित) समीक्षा प्रबुद्ध भारत के मई १९१४ अंक में प्रकाशित।

(८) नारद-पंचरात्र (बँगला अनुवाद सहित)।

मठ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

इलाहाबाद मठ के प्रारम्भ से ही इसके द्वारा अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन तथा उनके प्रचारार्थ विक्रय किया गया।

१९४७ ई. में 'स्वामी विज्ञानानन्द' (बँगला में), लेखक – स्वामी जगदीश्वरानन्द।

१९५३ ई. में 'सत्प्रसंगे स्वामी विज्ञानानन्द' – संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश, (बँगला में), संकलक – स्वामी अपूर्वानन्द।

१९५४ में – माँ सारदा शताब्दी के अवसर पर पं. जयराम मिश्र द्वारा स्वामी पवित्रानन्द द्वारा लिखित 'श्रीमाँ सारदा देवी की संक्षिप्त जीवनी' का प्रकाशन हुआ, जो बाद में मायावती के अद्वैत आश्रम पुनर्मुद्रित होता रहा है।

१९६३ ई. में ओंकार शरद् द्वारा लिखित 'स्वामी विवेकानन्द' पुस्तिका का प्रकाशन।

१९६४ में – परमहंस चरित (श्रीरामकृष्ण देव के संक्षिप्त जीवन-चरित्र और उपदेश) का पुनर्मुद्रण। १९३६ में इसके तीसरे संस्करण का प्रकाशन 'श्रीरामकृष्ण शताब्दी सभा, इलाहाबाद' द्वारा हुआ था।

१९७२ ई. में – 'स्वामी विज्ञानानन्द : जीवन और सन्देश', स्वामी विश्वाश्रयानन्द, अनुवादक – ब्र. देवेन्द्र।

१९८६ ई. में 'स्वामी विज्ञानानन्द : एक चित्रमय जीवनी' (अंग्रेजी में), संकलक – स्वामी हर्षानन्द।

१९८८ ई. में स्वामी विवेकानन्द की १२५ वीं जयन्ती समारोह के अवसर पर २० नवम्बर को मठ में आयोजित 'कवि-सम्मेलन' में पढ़ी गयी कविताओं की पुस्तिका।

५. कल्याण कार्यक्रम – पहली से आठवीं तक के लगभग ४० निर्धन तथा मेधावी छात्र-छात्राओं को पाठ्य-पुस्तकें तथा कोचिंग की सुविधा दी जाती है। मुहल्ले के गरीब बच्चों को प्रतिदिन दूध तथा बिस्कुट का आहार कराया जाता है। वर्ष में एक बार वस्त्र भी दिये जाते हैं।

६. माघ मेला तथा कुम्भ मेला – प्रतिवर्ष माघ (जनवरी-फरवरी) के महीने में और हर १२ वर्ष के अन्तराल पर सम्पन्न होनेवाले अर्ध-कुम्भ तथा पूर्ण-कुम्भ मेलों के अवसर पर सेवाश्रम द्वारा त्रिवेणी संगम पर एक शिविर का आयोजन किया जाता है। माघ मेले में प्रतिवर्ष शिविर लगाना १९८० ई. से आरम्भ हुआ। इस शिविर में धार्मिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम चलते रहते हैं। इसके माध्यम से कल्पवासियों तथा तीर्थयात्रियों को नि:शुल्क चिकित्सा-सेवा भी उपलब्ध करायी जाती है।

७. अतिथि निवास – सर्वप्रमुख तीर्थों में एक होने के कारण यहाँ त्रिवेणी-संगम में स्नान करने हेतु सारे देश से वर्ष भर तीर्थयात्री आते रहते हैं। १९६३ ई. में उनके निवास हेतु 'विवेकानन्द शताब्दी स्मृति' भवन का निर्माण कराया गया था। मठ तथा मिशन के केन्द्रों से परिचय-पत्र लानेवाले यात्रियों के निवास हेतु एक अतिथि-निवास उपलब्ध है। क्रिया-अनुष्ठान के लिये पुरोहित की भी व्यवस्था है।

मठाध्यक्षों का कार्यकाल

स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज ने १० वर्ष 'ब्रह्मवादिन-क्लब' तथा २८ वर्ष 'रामकृष्ण मठ' – इस प्रकार कुल मिलाकर इलाहाबाद में ३८ वर्ष बिताने के बाद २५ अप्रैल १९३८ को इलाहाबाद मठ में ही देहत्याग किया।

पिछले सौ वर्षों में इलाहाबाद मठ तथा मिशन के कुल १३ अध्यक्ष हुए हैं, जिनका कार्यकाल इस प्रकार है –

१९१०, अक्तूबर से स्वामी विज्ञानानन्द (लगभग २८ वर्ष)
१९३८, ६ जून से स्वामी राघवानन्द (लगभग ४ वर्ष)
१९४२, ३ सितम्बर से स्वामी धीरात्मानन्द (१९ वर्ष)
१९६१, ३० मार्च से स्वामी स्वयंप्रभानन्द (करीब ३ वर्ष)
१९६४, ५ मार्च से स्वामी धीरात्मानन्द (करीब ६ वर्ष)
१९६९, ३१ अक्तूबर से स्वामी व्योमानन्द (लगभग ६ वर्ष)
१९७५, १ जुलाई से स्वामी युक्तानन्द (लगभग ३ माह)
१९७५, २१ अक्तूबर से स्वामी परानन्द (करीब १० माह)
१९७६, १४ सितम्बर से स्वामी वीतभयानन्द (करीब ६ वर्ष)
१९८१, २९ अप्रैल से स्वामी तत्त्वबोधानन्द (करीब ४ वर्ष)
१९८५, १ अप्रैल से स्वामी हर्षानन्द (लगभग ४ वर्ष)
१९८९, १५ अप्रैल से स्वामी सत्यरूपानन्द (करीब १ वर्ष)
१९९०, ७ मार्च से स्वामी निखिलात्मानन्द (प्राय: १४ वर्ष)
२००२, २ दिसम्बर से स्वामी त्यागात्मानन्द (करीब ७ वर्ष)
२०१०, २४ फरवरी से स्वामी सर्वलोकानन्द (करीब ४ माह)
२०१०, ४ जुलाई से स्वामी निखिलात्मानन्द (अब तक)

सन्दर्भ-सूची –

(शेष अगले पृष्ठ पर)

कठोपनिषद्-भाष्य (३)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। उनमें से ईश तथा केन उपनिषदों के शांकर भाष्य का स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ सरल अनुवाद हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं। अब उन्हीं के द्वारा कठोपनिषद्-भाष्य का अनुवाद प्रस्तुत है। इसमें भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और अधिकांश कठिन सन्धियों का विच्छेद करके सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो सके। –सं.)

वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताँ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ।।७।।

अन्वयार्थ – (नचिकेता की बात सुनने के बाद पिता ने उसे यमलोक भेज दिया। यम अनुपस्थित थे। तीन दिनों बाद उनके लौटने पर उनके परिवार के लोगों ने उनसे कहा –) **ब्राह्मणः** ब्राह्मण या ब्रह्म-जिज्ञासु **अथितिः** अतिथि (बनकर) (मानो) **वैश्वानरः** अग्नि के रूप में, **गृहान्** गृहस्थ के घरों में **प्रविशति** प्रवेश करता है; (अर्थात् अतिथि का उचित सत्कार न होने पर गृहस्थ का अकल्याण होता है)। (बड़े लोग) **तस्य** उस अतिथि का, **एताम्** इस प्रकार (पाद्य-अर्घ्य आदि देकर) (उसकी) **शान्तिम्** शान्ति (थकान आदि मिटाना) **कुर्वन्ति** किया करते हैं। (अत:) **वैवस्वत** हे सूर्यपुत्र यम, **उदकम्** (नचिकेता के चरण धोने के लिये) जल **हर** ले जाइये ।।

भावार्थ – (नचिकेता के यमलोक पहुँचने के तीन दिनों बाद यमराज अपनी यात्रा से लौटे। तब उनके परिवार-जन ने उनसे कहा –) ब्राह्मण (ब्रह्म-जिज्ञासु) अतिथि (मानो) अग्नि के रूप में गृहस्थ के घरों में प्रवेश करता है; (अर्थात् उसका उचित सत्कार न हो, तो गृहस्थ का अहित होता है)। (बड़े लोग) उस अतिथि का इस प्रकार (पाद्य-अर्घ्य आदि देकर) उसकी शान्ति (थकान मिटाना आदि) करते हैं। (अत:) हे सूर्यपुत्र यम, (उसके चरण धोने के लिये) जल ले आइये ।।

भाष्य – स एवम् उक्तः पिता-आत्मनः सत्यतायै प्रेषयामास। स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीः उवास यमे प्रोषिते (– ब्रह्मभवनं गते)। प्रोष्य-आगतं यमम्-अमात्या भार्या वा ऊचुः बोधयन्तो –

भाष्य-अनुवाद – नचिकेता द्वारा ऐसा कहे जाने पर पिता ने अपने सत्य की रक्षा के लिये उसे भेज दिया। वह यम के लोक में गया। यम के बाहर गये होने के कारण वह उनके भवन में तीन रात रहा। यम के लौटने पर उनकी पत्नी या उनके मंत्री उन्हें सलाह देते हुए बोले –

वैश्वानरः अग्निः एव साक्षात् प्रविशति अतिथिः सन् ब्राह्मणो गृहान् दहन्-इव तस्य दाहं शमयन्त इव अग्नेः एतां पाद्य-आसन-आदि-दान-लक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तः अतिथेः यतः अतः हर आहर हे वैवस्वत उदकं नचिकेतसे पाद्य-अर्थम्। यतः च अकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ।।७।।

ब्राह्मणः अतिथिः ब्राह्मण अतिथि साक्षात् **वैश्वानरः** अग्नि ही होकर **गृहान्** मानो घरों को जलाते हुए **प्रविशति** प्रवेश करता है। चूँकि सज्जन लोग **तस्य** अतिथि को अग्नि-दाह के शमन के समान ही **एताम्** इस तरह का पाद्य, आसन आदि देकर **शान्तिम् कुर्वन्ति** उसकी शान्ति किया करते हैं और चूँकि इसे न करने पर प्रत्यवाय (पाप) होना भी बताया गया है, अत: **वैवस्वत** हे यम, नचिकेता के चरण धोने हेतु **उदकम्** जल **हर** ले जाइये ।।

आशाप्रतीक्षे सङ्गतँ सूनृतां च,
इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान् ।
एतद्-वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो,
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ।।८।।

अन्वयार्थ – **यस्य गृहे** जिसके घर में, **ब्राह्मणः** ब्राह्मण **अनश्नन्** बिना खाये **वसति** निवास करता है, (उस) **अल्पमेधसः**

पिछले पृष्ठ का शेषांश

१. Reminiscences of Swami Vivekananda, by His Eastern and Western Admirers, Mayavati, Ed. 1961, P. 355-62
२. प्रत्यक्षदर्शीर स्मृतिपटे स्वामी विज्ञानानन्द (बँगला), पृ. २९०
३. श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, भाग २, प्रथम सं., पृ. ८३-८४
४. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला ग्रन्थ), पृ. २५८
५. स्वामीजीर पदप्रान्ते, पृ. ११६-१७, १३७; तथा Prabuddha Bharata, Nov 1913
६. प्रत्यक्षदर्शीर (पूर्वोद्धृत), पृ. २२१, २९६; ७. वही, पृ. २७
८. स्वामी विज्ञानानन्द : जीवन और सन्देश, स्वामी विश्वाश्रयानन्द, इलाहाबाद, प्रथम सं., पृ. १९-२०; तथा प्रत्यक्षदर्शीर स्मृतिपटे स्वामी विज्ञानानन्द, पृ. २९८। (कहीं-कहीं भूलवश मठ की शुरुआत १९०८ ई. में बतायी गयी है।)
९. God Lived With Them, Swami Chetananda, 1998, p. 606

मन्दबुद्धि **पुरुषस्य** व्यक्ति का **आशा-प्रतीक्षे** (ज्ञात पाने योग्य वस्तुओं के लिये) प्रार्थना और (अज्ञात पाने योग्य वस्तुओं के लिये) प्रतीक्षा, **संगतम्** उनके संयोग से होनेवाला फल, **सूनृताम्** मधुर वाणी का फल, **इष्टापूर्ते** यज्ञ तथा बाग के दान आदि का फल **च** और **पुत्र-पशून्** पुत्र-पशु – **सर्वान्** सबको **एतत्** अतिथि का यह अनाहार, **वृङ्क्ते** नष्ट कर देता है ।।

भावार्थ – जिस मन्दबुद्धि व्यक्ति के घर में ब्राह्मण अतिथि बिना खाये निवास करता है, उस (अतिथि) का यह अनाहार उस व्यक्ति की ज्ञात वस्तुओं को पाने की आशा तथा अज्ञात वस्तुओं को पाने की प्रतीक्षा, उनके संग से होनेवाला फल, मधुर बोलने का फल, यज्ञ तथा बाग दान करने आदि के फल और पुत्र-गो आदि – सबको नष्ट कर देता है ।।

भाष्य – आशाप्रतीक्षे अनिर्ज्ञात-प्राप्य-इष्ट-अर्थ-प्रार्थना आशा, निर्ज्ञात-प्राप्य-अर्थ-प्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशा-प्रतीक्षे, संगतम् तत्-संयोगजं फलम्, सूनृताम् च सूनृता हि प्रिया वाक्-तत्-निमित्तजं च, इष्टापूर्ते इष्टं यागजं फलं, पूर्तम् आराम-आदि क्रियाजं फलम् । पुत्रपशूंश्च च पुत्रान् च पशून् च सर्वान् एतत् सर्वं यथा उक्तं वृङ्क्ते आवर्जयति विनाशयति इति एतत्, पुरुषस्य अल्पमेधसः अल्पप्रज्ञस्य – यस्मान् अनश्नन् अभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे वसति । तस्माद् अनुपेक्षणीयः सर्वा-अवस्थासु अपि अतिथिः इति अर्थः ।।

भाष्य-अनुवाद – **आशाप्रतीक्षे** अज्ञात पाने योग्य वस्तुओं के लिये प्रार्थना रूप **आशा** और ज्ञात पाने योग्य वस्तुओं (राज्य आदि) के लिये **प्रतीक्षा**, **संगतम्** सज्जनों के सम्पर्क से होनेवाला फल, **सूनृताम्** मधुर वाणी के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाला फल, **इष्टापूर्ते** इष्ट अर्थात् यज्ञ से उत्पन्न होनेवाला फल और पूर्त अर्थात् उद्यान आदि (लोकहित के) कार्यों का फल; और **पुत्रपशूंश्च** पुत्र तथा पशुओं (चल सम्पत्तियों) **सर्वं एतत्** की जगह **सर्वान् एतत्** होना चाहिये – कहे गये उपरोक्त सभी वस्तुओं को **वृङ्क्ते** वर्जन अर्थात् विनाश कर देता है। **पुरुषस्य अल्पमेधसः** उस मन्दबुद्धि व्यक्ति के, जिसके **गृहे** घर में **ब्राह्मणः** ब्राह्मण **अनश्नन्** बिना खाये **वसति** निवास करता है। अतः तात्पर्य यह है कि किसी भी हालत में अतिथि का तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिये।

एवम् उक्तो मृत्युः उवाच नचिकेतसम् उपगम्य पूजा-पुरःसरम् –

ऐसा कहे जाने पर यम ने नचिकेता के पास जाकर उनकी पूजा की और उसके बाद कहा –

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे-
ऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात्प्रति त्रीन्वरान् वृणीष्व ।।९।।

अन्वयार्थ – (तब यमराज ने नचिकेता के पास जाकर उसे पाद्य-आसन आदि दिया और कहा –) **ब्रह्मण्** हे ब्राह्मण, (तुम) **अतिथिः** अतिथि हो, **नमस्यः** पूज्य हो; (फिर) **यत्** चूँकि (तुमने) **मे गृहे** मेरे घर में **तिस्रः** तीन **रात्रीः** रात **अनश्नन्** बिना खाये **अवात्सीः** निवास किया है, **तस्मात्** अतः **ब्रह्मण्** हे ब्राह्मण, **ते** तुमको **नमः अस्तु** नमस्कार करता हूँ। **मे** मेरा **स्वस्तिः** कल्याण **अस्तु** हो। (बिना खाये बितायी हुई तीन रातों के लिये तुम **त्रीन्** तीन **वरान्** वर **वृणीष्व** माँग लो।

भावार्थ – तब यमराज ने नचिकेता के पास जाकर उसे पाद्य-आसन आदि देकर उसे सम्मानित किया और कहा – हे ब्राह्मण, (तुम) अतिथि हो, पूज्य हो, (फिर) चूँकि (तुमने) मेरे घर में तीन रात बिना खाये निवास किया है, अतः हे ब्राह्मण, तुमको नमस्कार करता हूँ। मेरा कल्याण हो। (बिना खाये बितायी हुई तीन रातों के लिये तुम तीन वर माँग लो।

भाष्य – तिस्रो रात्रीः यद् यस्माद् अवात्सीः उषितवान् असि गृहे मे मम अनश्नन् हे ब्रह्मन् अतिथिः सन् नमस्यः नमस्कार-अर्हः च तस्मात् नमस्ते तुभ्यम् अस्तु भवतु । हे ब्रह्मन् स्वस्ति भद्रं मे अस्तु तस्मात् भवतः अनशनेन मद्-गृहवास-निमित्तात् दोषात् । तत्-प्राप्ति-उपशमेन यद्यपि भवद्-अनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात् तथापि त्वत्-अधिक-सम्प्रसादनार्थम्-अनशनेन उषिताम् एक-एकां रात्रिं प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व अभिप्रेत-अर्थ-विशेषान् प्रार्थयस्व मत्तः ।।

भाष्यार्थ – ब्रह्मन् हे ब्राह्मण, चूँकि तुमने **तिस्रो रात्रीः** तीन रात **गृहे मे** मेरे घर में **अतिथिः** अतिथि होकर **अनश्नन्** बिना खाये हुए **अवात्सीः** निवास किया है, अतः तुम **नमस्यः** नमस्कार के योग्य हो। इसलिये **नमः ते अस्तु** तुमको नमस्कार है। **ब्रह्मन्** हे ब्राह्मण, **स्वस्ति मे अस्तु** मेरा कल्याण हो। **तस्मात्** अतः मेरे घर में तुम्हारे बिना खाये निवास करने के निमित्त हुए दोष के फलप्राप्ति की निवृत्ति के लिये – यद्यपि तुम्हारी कृपा से मेरा सब मंगलमय ही होगा, तथापि तुम्हारी और भी अधिक प्रसन्नता हेतु, **प्रति** बिना खाये हुए एक-एक रात निवास के लिये मुझसे **त्रीन् वरान्** तीन वर **वृणीष्व** माँग लो ।।

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्
वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ।।१०।।

अन्वयार्थ – (नचिकेता बोला –) **मृत्यो** हे यमराज, **गौतम** मेरे पिता गौतम **मा अभि** मेरे प्रति **यथा** जिससे **शान्त-संकल्पः** उत्कण्ठा-रहित, **सुमनाः** प्रसन्नचित्त, **वीतमन्युः** क्रोधरहित **स्यात्** हों; (और) **त्वत् प्रसृष्टम्** आपके द्वारा मुक्त किये जाने पर **प्रतीतः** (मुझे अपने पुत्र के रूप में) पहचान कर **मा अभि**

मेरे साथ **अभिवदेत्** स्नेहपूर्वक बातें करें – **त्रयाणाम्** तीन वरों में से **एतत्** यही (पिता के चित्त के आनन्द की) (मैं) **प्रथमम्** पहले **वरम्** वर (के रूप में) **वृणे** प्रार्थना करता हूँ।

भावार्थ – नचिकेता बोला – हे यमराज, मेरे पिता गौतम मेरे प्रति जिससे उत्कण्ठा-रहित, प्रसन्नचित्त, क्रोधरहित हों; (और) आपके द्वारा मुक्त किये जाने पर (मुझे अपने पुत्र के रूप में) पहचान कर मेरे साथ स्नेहपूर्वक बातें करें – तीन वरों में से इसी (पिता के चित्त के आनन्द) को (मैं) अपने पहले वर के रूप में प्रार्थना करता हूँ।

भाष्य – नचिकेताः तु आह – यदि दित्सुः वरान् – शान्त-सङ्कल्प उपशान्तः सङ्कल्पो यस्य मां प्रति, यमं प्राप्य किन्नु करिष्यति मम पुत्र इति, स शान्तसङ्कल्पः सुमनाः प्रसन्न-मनाः च यथा स्यात् वीतमन्युः विगत-रोषः च गौतमो मम पिता माऽभि मां प्रति रे मृत्यो, किम् च त्वत् प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति माम् अभिवदेत् प्रतीतो लब्ध-स्मृतिः सः एव अयं पुत्रो मम आगत इति एवं प्रत्यभिजानन् इति अर्थः । एतत् प्रयोजनं त्रयाणां वराणां प्रथमम् आद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत् पितुः परितोषणम् ।।१०।।

भाष्य-अनुवाद – नचिकेता बोला – **मृत्यो** हे यम, यदि आप मुझे (तीन) वर देना चाहते हैं, तो (मेरी प्रार्थना है कि) मेरे पिता **गौतमो** गौतम **शान्त-सङ्कल्प** हो जायँ, अर्थात् मेरे विषय में उनकी यह चिन्ता शान्त हो जाय कि मेरा पुत्र यम के घर में जाकर न जाने क्या कर रहा होगा ! वे **मा अभि** मेरे प्रति **सुमनाः** प्रसन्नचित्त तथा **वीतमन्युः** क्रोधरहित हो जायँ। इसके अतिरिक्त **त्वत् प्रसृष्टं** आपके द्वारा मुक्त करके मुझे अपने घर भेजे जाने पर **प्रतीतो** मुझे पहचान करके अर्थात् यह जानते हुए कि यह मेरा ही पुत्र लौट आया है, **माम् अभिवदेत्** मुझसे बात करें। **त्रयाणां** तीनों वरों में से पिता के सन्तोष रूपी **एतत्** यही **प्रथमम्** पहला वर **वृणे** माँगता हूँ॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखँ् रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ।।११।।

अन्वयार्थ – (यम बोले –) **उद्दालकिः** उद्दालक या उद्दालक पुत्र, **आरुणिः** अरुण के पुत्र (अर्थात् तुम्हारे पिता), (तुम्हारे प्रति) **यथा** जैसे **पुरस्तात** पहले, (स्नेहयुक्त) थे, (वे) **प्रतीतः** तुम्हें पहचान कर **भविता** (वैसे ही) हो जायेंगे; **मृत्यु-मुखात्** मृत्यु के मुख से **प्रमुक्तम्** मुक्त हुए **त्वाम्** तुमको **ददृशिवान्** देखकर **मत्-प्रसृष्टः** मेरी इच्छानुसार **वीतमन्युः** क्रोधरहित होकर **रात्रीः** रातों में **सुखम्** सुखपूर्वक **शायिता** सोयेंगे।

भावार्थ – यम बोले – तुम्हारे पिता अरुण-पुत्र औद्दालकि, तुम्हें पहचान कर (तुम्हारे प्रति) पहले जैसे ही (स्नेहयुक्त) हो जायेंगे; वे तुमको मृत्यु के मुख से मुक्त हुआ देखकर मेरी इच्छानुसार क्रोधरहित होकर रातों में सुखपूर्वक सोयेंगे।

भाष्य – मृत्युः उवाच – यथा बुद्धिः त्वयि पुरस्तात् पूर्वम् आसीत् स्नेह-समन्विता पितुः तव, भविता प्रीति-समन्वितः तव पिता तथा एव प्रतीतः प्रतीतवान् सन् । औद्दालकिः उद्दालक एव औद्दालकिः अरुणस्य अपत्यम् आरुणिः, द्वय-अमुष्य-अयणः वा । मत्प्रसृष्टो मया अनुज्ञातः सन् उत्तरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युः विगत-मन्युः च भविता स्यात्, त्वां पुत्रं ददृशिवान् दृष्टवान् सन् मृत्युमुखात् मृत्यु-गोचरात् प्रमुक्तं सन्तम् ।।

भाष्य-अनुवाद – यम बोले – **औद्दालकिः** तुम्हारे पिता औद्दालकि, **यथा** जैसे **पुरस्तात्** पहले तुम्हारे प्रति जैसे स्नेहयुक्त थे, वे **प्रतीतः** तुम्हें पहचान कर वैसे ही **भविता** प्रीतियुक्त हो जायेंगे। उद्दालक ही औद्दालकि हैं; अरुण के पुत्र **आरुणिः** आरुणि हुए या फिर यह (उद्दालक व अरुण) दो परिवारों का नाम हो सकता है। **मत्प्रसृष्टः** मेरे आदेशानुसार (वे) **वीतमन्युः** क्रोधरहित हो जायेंगे, **त्वाम्** पुत्र को **मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्** मृत्यु के मुख से मुक्त हुआ **ददृशिवान्** देखने के बाद **रात्रीः** आगामी रातों में भी **सुखम्** प्रसन्न मन से **शयिता** सोयेंगे॥

❖(क्रमशः)❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः ।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम् ।।१८४।।

अन्वय – बुद्धि-इन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृ-लक्षणः बुद्धिः विज्ञानमय-कोशः स्यात्, पुंसः संसार-कारणम्।

अर्थ – पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा (कर्तृत्व आदि) वृत्तियों से युक्त बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। यही जीव के संसार (जन्म-मृत्यु रूपी आवागमन) का कारण है।

अनुव्रजच्चित्प्रतिबिम्बशक्ति-
र्विज्ञानसंज्ञः प्रकृतेर्विकारः ।
ज्ञानक्रियावानहमित्यजस्रं
देहेन्द्रियादिष्वभिमन्यते भृशम् ।।१८५।।

अन्वय – अनुव्रजत्-चित्-प्रतिबिम्ब-शक्तिः प्रकृतेः विकारः ज्ञान-क्रियावान् विज्ञान-संज्ञः। देहेन्द्रिय-आदिषु अजस्रं 'अहं' इति भृशम् अभिमन्यते।

अर्थ – चित्-शक्ति या चैतन्य के प्रतिबिम्ब को लेकर विद्यमान, प्रकृति (जड़) का विकार (कार्य), ज्ञान तथा क्रिया शक्ति से सम्पन्न (यह) विज्ञानमय कोश सर्वदा, पूर्ण रूप से देह-इन्द्रियों आदि में 'मैं' अभिमान किये रहता है।

अनादिकालोऽयमहंस्वभावो
जीवः समस्तव्यवहारवोढा ।
करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः
पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि ।।१८६।।
भुङ्क्ते विचित्रास्वपि योनिषु व्रज-
न्नायाति निर्यात्यध ऊर्ध्वमेषः ।
अस्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत्-
स्वप्नाद्यवस्थाः सुखदुःखभोगः।।१८७।।

अन्वय – अयं अहम्-स्वभावः अनादि-कालः जीवः समस्त-व्यवहार-वोढा । पूर्व-वासनः पुण्यानि अपुण्यानि च कर्माणि करोति, तत् फलानि अपि भुङ्क्ते एषः विचित्रासु अपि योनिषु व्रजन् ऊर्ध्वं आयाति अधः निर्याति अस्य विज्ञानमयस्य एव जाग्रत्-स्वप्न-आदि-अवस्थाः सुख-दुःख-भोगः ।

अर्थ – यह 'अहं-स्वभाववाला' विज्ञानमय कोश रूपी जीव अनादि काल से ही समस्त लौकिक तथा व्यावहारिक कर्मों का निर्वाहक है। यह अपनी पुरानी वासनाओं के अनुसार पुण्य तथा पाप करता है और उनके फल भी भोगता है। यह विभिन्न (मनुष्य, देव या पशु) योनियों में जन्म लेकर कभी ऊर्ध्व गति, तो कभी अधोगति को प्राप्त होता है। यही जाग्रत् स्वप्न आदि अवस्थाओं का अनुभव करता है और सुख-दुःख का भोग भी यह विज्ञानमय कोश ही करता है।

देहादिनिष्ठाश्रमधर्म कर्म-
गुणाभिमानः सततं ममेति ।
विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः
प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः ।
अतो भवत्येष उपाधिरस्य
यदात्मधीः संसरति भ्रमेण ।।१८८।।

अन्वय – परात्मनः प्रकृष्ट-सान्निध्य-वशात् अयम् विज्ञान-मय कोशः अति-प्रकाशः, देहादि-निष्ठ-आश्रम-धर्म-कर्म-गुण-अभिमानः मम इति सततम् । अतः एषः अस्य उपाधिः भवति, भ्रमेण यत्-आत्मधीः संसरति ।

अर्थ – यह (विज्ञानमय कोश) देह आदि द्वारा होनेवाले आश्रमविहित धर्म, कर्म, गुणों में – 'यह सब मेरा ही है' – निरन्तर ऐसा अभिमान लेकर आचरण करता रहता है। परमात्मा के निकट सान्निध्य के कारण यह (विज्ञानमय कोश) अत्यन्त प्रकाशमान है। इसी कारण यह इस (शुद्ध आत्मा) की उपाधि बन जाता है। वही भ्रान्तिवश स्वयं में 'मैं' बुद्धि आरोपित करके संसार में आवागमन करता है।

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि स्फुरत्ययं ज्योतिः ।
कूटस्थः सन्नात्मा कर्ता भोक्ता भवत्युपाधिस्थः।। १८९

अन्वय – यः अयं ज्योतिः प्राणेषु हृदि विज्ञानमयः स्फुरति । कुटस्थः अयम् आत्मा सन् उपाधिस्थः कर्ता भोक्ता भवति ।

अर्थ – यह ज्योति-स्वरूप विज्ञानमय कोश – समस्त प्राणों, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा हृदय में स्फुरित होता रहता है। चैतन्य-स्वरूप आत्मा कूटस्थ (स्थिर) होते हुए भी (विज्ञानमय) उपाधि से युक्त होकर कर्ता-भोक्ता बन जाता है।

स्वयं परिच्छेदमुपेत्य बुद्धे-
स्तादात्म्यदोषेण परं मृषात्मनः ।
सर्वात्मकः सन्नपि वीक्षते स्वयं
स्वतः पृथक्त्वेन मृदो घटानिव ।।१९०।।

अन्वय – स्वयं सर्वात्मकः सन् अपि, मृषात्मनः बुद्धेः परिच्छेदम् उपेत्य तादात्म्य-दोषेण परं स्वयं स्वतः पृथक्त्वेन वीक्षते, मृदः घटान् इव ।

अर्थ – स्वयं सर्वात्मक होकर भी, (यह आत्मा) मिथ्या-स्वरूप वाली बुद्धि (विज्ञानमय कोश) की ससीमता को ग्रहण कर लेती है। फिर उसके साथ तादात्म्य अर्थात् अभिन्नता के दोष से स्वयं को अपनी आत्मा से वैसे ही पृथक् देखती है, जैसे कि (अज्ञानी व्यक्ति) घड़ों को मिट्टी से भिन्न देखता है।

उपाधिसम्बन्धवशात् परात्मा
ह्युपाधिधर्मान् अनुभाति तद्गुणः ।
अयो-विकारान् अविकारि-वह्निवत्
सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात् ।।१९१।।

अन्वय – स्वभावात् सदा एकरूपः अपि, परात्मा हि परः उपाधि-सम्बन्ध-वशात् तद्गुणः उपाधि-धर्मान् अनुभाति, अविकारि-वह्निवत् अयः विकारान् ।

अर्थ – यह परात्मा अपने स्वरूप से सदा एकरूप होकर भी, अपने से भिन्न उपाधि के सम्बन्ध के फलस्वरूप उसके गुणों से युक्त होकर उस उपाधि के लक्षणों को उसी प्रकार प्रकट करता है, जैसे कि अविकारी अग्नि लौहपिण्ड के संयोग से उसके आकार को व्यक्त करता है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

पी बी एक्स फोन (०३३) २६५४-११४४
(०३३) २६५४-११८०   (०३३) २६५४-९६८१
फैक्स : (०३३) २६५४-४३४६
ई-मेल : rkmhq@vsnl.com वेबसाइट : www.belurmath.org

रामकृष्ण मिशन (मुख्य कार्यालय)
पो. बेलूड़ मठ, जिला - हावड़ा
पश्चिम बंगाल - ७११२०२ (भारत)
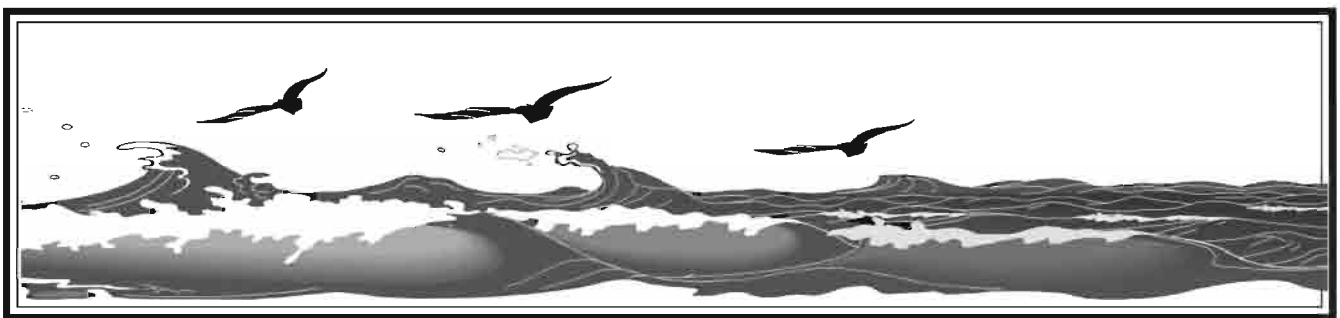
२००९-१० के लिए कार्यकारिणी समिति की रिपोर्ट का सारांश

रामकृष्ण मिशन की १०१वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड़ मठ में रविवार १९ दिसम्बर २०१० को अपराह्न ३.३० बजे आयोजित की गयी। प्रबन्ध-समिति ने मिशन के पंजियन के सौ-वर्ष पूरे होने के अवसर पर एक स्मारक ग्रन्थ और राहत तथा पुनर्वास क्षेत्रों में मिशन के सेवाकार्यों की एक पुस्तिका का प्रकाशन किया। मार्च, २०११ में श्रीरामकृष्णदेव का १७५वाँ जन्मतिथि-महोत्सव मनाया जायेगा।

जनवरी २०१३ से जनवरी २०१४ तक स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव का सार्ध शताब्दी (१५०वाँ वर्ष) का उत्सव मनाया जायेगा। इस अवसर पर प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में गठित राष्ट्रीय कमेटी ने २०१० से २०१४ तक ४ सालों के लिए सारे देश में विभिन्न सेवा-प्रकल्पों के लिये १०० करोड़ रुपयों का अनुदान घोषित किया है। मुख्य प्रकल्पें इस प्रकार हैं : १५० गाँवों में शिशु-स्वास्थ्य तथा सर्वांगीण विकास, १० गाँवों में ग्रामीण महिलाओं के शैक्षणिक विकास और स्व-सशक्तिकरण, १० चुने हुए अति गरीब क्षेत्रों से गरीबी उन्मूलन, युवाओं के लिए मूल्यबोध-शिक्षण, विभिन्न भाषाओं में स्वामीजी पर पुस्तकों का प्रकाशन तथा स्वामीजी के ऊपर फीचर फिल्म (चलचित्र) आदि का निर्माण इत्यादि।

शैक्षणिक क्षेत्र में इस वर्ष की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : विवेकानन्द विश्वविद्यालय के अन्तर्गत नरेन्द्रपुर प्रभाग में कृषि-जैव-प्रौद्यौगिकी पर २-वर्षीय स्नातकोत्तर और पर्यावरण एवं आपदा-प्रबन्धन पर पी.एच.डी. पाठ्यक्रम की शुरुआत, सेवा-प्रतिष्ठान अस्पताल (कोलकाता) केन्द्र में पश्चिम बंगाल स्वास्थ्य विज्ञान विश्वविद्यालय द्वारा अनुमोदित ३-वर्षीय क्रिटिकल केयर प्रौद्यौगिकी पर स्नातक पाठ्यक्रम की शुरुआत, इंस्टिट्युट ऑफ कल्चर (कोलकाता) केन्द्र द्वारा प्राचीन ग्रीक भाषा का १-वर्षीय और फ्रेंच व स्पेन की बोलचाल की भाषा के छमाही पाठ्यक्रमों का शुभारम्भ।

चिकित्सा क्षेत्र में इस वर्ष की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है : ईटानगर केन्द्र में एक बहिर्विभाग का आरम्भ एवं चुंबकीय अनुनाद प्रतिबिम्बीकरण (MRI) यूनिट तथा २-शय्याओं वाले रक्तापोहन (हिमोडायलिसिस) यूनिट की स्थापना, राँची सेनेटोरियम केन्द्र द्वारा २०-शय्याओं वाले प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र एवं बहिर्विभाग रोगियों के लिए अस्थि-चिकित्सा विभाग, श्रीनगर केन्द्र में दातव्य चिकित्सालय तथा मुजफ्फरपुर और बाँकुड़ा केन्द्रों द्वारा भ्राम्यमान चिकित्सा-इकाइयों का शुभारम्भ।

ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – राँची (मोराबादी) केन्द्र द्वारा टिशू कल्चर प्रयोगशाला से पौधे सख्त करने के लिए मिस्ट चेम्बर का निर्माण, राँची सेनेटोरियम केन्द्र द्वारा गरीब और आदिवासी लोगों के लिए लाख की खेती, पत्ती गढ़न (leaf- moulding), मोटर ड्राइविंग आदि कई मुफ्त प्रशिक्षण कार्यक्रम, नरेन्द्रपुर केन्द्र के 'लोक-शिक्षा-परिषद' विभाग द्वारा आईला से दुर्घटनाग्रस्त महिलाओं और बच्चों के लिए गोसाबा द्वीप के ६३ गाँवों में ३२१ आँगनवाड़ी केन्द्र, १६० प्राथमिक विद्यालय, ४० उच्च विद्यालय व ४० शिशु शिक्षण केन्द्रों में परामर्श और स्वास्थ्य तथा स्वच्छता सामग्रियों की आपूर्ति के माध्यम से सामाजिक पुनर्वास कार्यक्रम की शुरुआत।

इस वर्ष के दौरान रामकृष्ण मठ के द्वारा पश्चिम बंगाल में गौरहाटी उपकेन्द्र का शुभारम्भ किया गया। रामकृष्ण मठ के अन्तर्गत निम्नलिखित नयी गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – तिरुअनन्तपुरम केन्द्र में एक जाँचशाला (laboratory block), बहिर्विभाग (OPD) काउंटर, फिजियोथेरापी विभाग और लेप्रेस्कोपी विभाग का शुभारम्भ, चैन्ने मठ केन्द्र द्वारा पश्चिम बंगाल के दुर्गापुर-स्थिति विकलांग कल्याण समिति के सहयोग से आयोजित विकलांगता निवारण शिविर द्वारा व्रण (अल्सर) चिकित्सा तथा कुष्ठ-रोग-प्रभावित व्यक्तियों के संवेदनशीलता (sensation) पुनरुद्धार हेतु होम्योपैथी चिकित्सा प्रणाली का शुभारम्भ।

भारत के बाहर चटगाँव मिशन के अन्तर्गत फतेयाबाद में एक नये उपकेन्द्र की शुरुआत हुई। बंग्लादेश में सिल्हट केन्द्र और फतेयाबाद उपकेन्द्र के द्वारा कम्प्यूटर प्रशिक्षण केन्द्र का शुभारम्भ किया गया।

इस वर्ष के दौरान मठ और मिशन ने ६.७१ करोड़ रुपये खर्च कर देश के कई भागों में बृहत स्तर पर राहत तथा पुनर्वास के कार्य किये, जिससे १३३४ गाँवों के २.८६ लाख परिवारों के ११.१८ लाख लोग लाभान्वित हुए। निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति, वृद्ध, बीमार व असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि कल्याण-कार्यों में ७.२१ करोड़ रुपये व्यय हुए।

१५ अस्पतालों, १३० डिस्पेनसरियों तथा ५९ भ्राम्यमान चिकित्सा-ईकाइयों के माध्यम से ८०.७३ लाख से अधिक रोगियों को चिकित्सा-सेवा प्रदान की गयी, जिसके तहत ८८.३७ करोड़ रुपये खर्च हुए।

हमारे शिक्षा-संस्थानों के द्वारा, बाल-विहार से लेकर विश्व-विद्यालय स्तर तक ३.८५ लाख विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की गयी। शिक्षा-कार्य में १७१.४६ करोड़ रुपये खर्च किये गये।

२७.९२ करोड़ रुपये की लागत पर ग्रामीण एवं आदिवासी विकास-योजनाओं का भी कार्यान्वयन किया गया। इस अवसर पर हम अपने सदस्यों एवं मित्रों के प्रति उनके हार्दिक एवं निरन्तर सहयोग के लिए आन्तरिक धन्यवाद एवं कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

(स्वामी प्रभानन्द)

१९ दिसम्बर २०१०   **महासचिव**